संत रविदास

वीरेन्द्र पाण्डेय



उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

BVP - 1925

8/2/18

28/66

संत रविदास

वीरेन्द्र पाण्डेय



उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान
राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन
6, महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ– 226 001 (उ.प्र.)
दूरभाष – 0522–2614470

प्रकाशक
निदेशक,
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान,
लखनऊ

ग्रन्थमाला संख्या– २८६

स्मृति संरक्षण योजना के अन्तर्गत प्रकाशित

प्रथम संस्करण : १९६८
द्वितीय संस्करण : २०११
तृतीय संस्करण : २०१५

प्रतियाँ : ५००
मूल्य : ४५.००

ISBN : 978-93-82175-48-3

मुद्रक :
प्रकाश पैकेजर्स,
२५७, गोलागंज,
लखनऊ

प्रकाशकीय

साहित्य हो या समाज के अन्य क्षेत्र, कुछ मनीषी और चिंतक ऐसे होते हैं, जो उसकी मुख्य धारा को प्रभावित करते हैं, परन्तु उनमें भी बिरले ऐसे होते हैं, जिनसे वह धारा विशेष पहचानी जाती है। हिन्दी साहित्य की निर्गुण भक्तिधारा के निर्माण में संत रविदास का योगदान ऐसा ही है। उन्होंने न केवल हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल को उत्कर्ष प्रदान किया, सामाजिक बुराइयों के विरोध में अगली कतार में खड़े हुए, अपितु असमानता, गरीबी और अभाव से पीड़ित आम जन को मानव-मूल्यों में रचे-बसे सरल-सम्पूर्ण जीवन का मार्ग दिखाया। संत रविदास असाधारण विद्वान महापुरुष थे। कहते हैं कि शंकराचार्य तक से उनका शास्त्रार्थ हुआ था। उसी के बाद उन्होंने स्वामी रामानंद का शिष्यत्व स्वीकार किया था। मीराँ भी उनकी प्रशसंक थीं। वह कबीर के समकालीन थे और दोनों ही एक दूसरे का सम्मान करते थे। दोनों के बीच भेंट के भी प्रमाण मिलते हैं। ऐसी ही एक भेंट के बाद कबीर ने संत रविदास को 'संतों के संत' कह कर आदर प्रकट किया था।

विद्वान लेखक श्री वीरेन्द्र पाण्डेय ने 'संत रविदास' शीर्षक पुस्तक 'गागर में सागर' की भाँति है। 50 पृष्ठों में ही उन्होंने जिस तरह से इसमें संत रविदास के प्रेरक व्यक्तित्व, समाज सेवा और पदों व बानियों आदि को संग्रहीत किया है, वह सभी वर्गो के पाठकों के लिए अत्यन्त उपयोगी है। निर्गुण काव्य परम्परा के संत शिरोमणि संत रविदास का प्रेरक व्यक्तित्व इसमें पाँच अध्यायों में बाँटा गया है। ये हैं– संतकाव्य, संत रविदास का जीवनवृत्त, जनश्रुतियाँ, संत रविदास, भावधारा और संत रविदास की संक्षिप्त ज्ञानेश्वरी। उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान की स्मृति संरक्षण योजना के अन्तर्गत प्रकाशित इस पुस्तिका का यह तृतीय संस्करण भी, आशा है कि सभी जागरूक पाठकों व विद्वतजनों के बीच आत्मीयता पायेगा।

डॉ. सुधाकर अदीब

निदेशक

निवेदन

समाज विकास का एक चर्चित सिद्धान्त है कि जितनी तेज क्रिया होती है, उसकी प्रतिक्रिया भी उतनी ही त्वरित होती है। इस सृष्टि में कुछ भी अनायास नहीं हो रहा और प्रत्येक कार्य के पीछे कोई न कोई कारण निहित है। इसके चलते व्यक्ति हो या समाज, सभी को किसी न किसी समय उत्थान या पतन के दौर से गुजरना पड़ता है। यह उनकी जिजीविषा ही है कि वे अपनी स्थितियों को बेहतर बनाने का प्रयास करते हैं, सफल होते हैं और विकास का मार्ग प्रशस्त करते हैं। मनुष्य की इस सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता से धरती का कोई कोना या काल अछूता नहीं रहा और प्रेरक व्यक्तियों ने अपने समर्पण, ज्ञान और सद्प्रयासों से सम्पूर्ण मनुष्य जाति को गौरवान्वित किया।

जहाँ तक उत्तर भारतीय समाज के मध्यकालीन विकास का सन्दर्भ है, यह एक कड़ुवी सच्चाई है कि तत्कालीन शताब्दियों के दौरान वह अनेक तरह की समस्याएँ यथा पिछड़ेपन, शोषण, गरीबी और अज्ञानता आदि से गुजर रहा था। इससे सर्वाधिक प्रभावित महिलाएं और समाज के विभिन्न कमजोर वर्ग थे। आये दिन होते युद्ध, बढ़ते स्वार्थ और गिरती अर्थव्यवस्था के बीच इन वर्गों को क्या कुछ नहीं देखना पड़ा। इस गहन अंधकार के बीच भी अवमूल्यनग्रस्त उत्तर भारतीय समाज को रास्ता दिखाने के लिए जागरूक और मानवीय सरोकारों से जुड़ी अनेक प्रतिभाएँ सामने आयीं। इनमें से अधिकतर उन्हीं कमजोर वर्गों की उपज थी, जो सामाजिक झंझावातों के सर्वाधिक शिकार थे।

ऐसी प्रतिभाएँ प्रायः संत भी थीं, समाज सुधारक भी और कवि भी। उन्होंने आम जनता की भाषा में अपनी बात रखी, जिससे समाज के सभी वर्ग प्रभावित हुए। संत रविदास उन्हीं महान प्रतिभाओं में एक है। उनके निस्पृह व्यक्तित्व का आधुनिक समाज में भी अत्याधिक आदर है और उनके योगदान को अपने विकासक्रम की आधारशिला के रूप में याद कर गौरवान्वित होता है। विद्वान लेखक श्री वीरेन्द्र पाण्डेय ने संत रविदास के जीवन, कृतित्व और योगदान को गम्भीरता से अध्ययन किया आत्मसात किया। उनकी असाधारण प्रतिभा का आकलन इस पुस्तक 'संत रविदास' से अनायास ही होता है। विद्वान लेखक ने अत्यन्त संक्षिप्तता, स्पष्टता और संदर्भ सहित इस पुस्तक में संत रविदास के विराट व्यक्तित्व को शब्द दिये हैं उनका यह प्रयास अत्यंत सराहनीय है। आशा है, सभी जागरूक वर्गों के बीच इस तृतीय संस्करण का भी यथोचित स्वागत होगा।

उदय प्रताप सिंह
कार्यकारी अध्यक्ष

प्रथम संस्करण का प्राक्कथन

मैं राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन के इस कथन का समर्थक हूँ कि संत काव्य को हिन्दी साहित्य का उच्चतम अंग माना जाना चाहिए। साथ ही मैं संत रविदास को उनके सभी सम-सामयिक संतों में श्रेष्ठतम भी मानता हूँ क्योंकि वे संत परम्परा की एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण कड़ी हैं।

हिन्दी साहित्य के विद्वानों में संत मत के आविर्भाव और उसकी प्रगति के सम्बन्ध में मतैक्य कभी नहीं रहा, जिसके विभिन्न और सुस्पष्ट कारण हैं किन्तु मतैक्य के न होने के बावजूद इस तथ्य से इंकार करने का साहस आज तक किसी में नहीं हुआ है कि संतों की वाणी में जन-चेतना मुखरित हुई, उसमें एक नयी समाजिक क्रान्ति, एक नये सामाजिक संगठन की मांग थी, मानव मात्र की समानता की पुकार थी और जगतनियन्ता के उस रूप की आराधना-भक्ति पर बल दिया गया था जो पार्थक्य और विभेद पर नहीं वरन् एकता और समरसता पर आधारित थी।

यह सही है कि संत अपढ़ और अशिक्षित थे, उनमें शिक्षा और विद्वता का अभाव था। किन्तु यह कहना सर्वथा गलत है कि वे हिन्दुत्व या प्रचलित सनातन धर्म के शास्त्रीय ज्ञान या उसकी विचारधारा से पूर्णतः अपरिचित थे। संतों की वास्तविक महानता उनकी अंतःदृष्टि में थी, उनके हृदय की विशालता में थी और उनकी विशुद्ध मानवता में थी। संत रविदास की साखियों में यत्र-तत्र उनके शास्त्रीय ज्ञान का परिचय भी मिलता है। उनकी एक साखी में कहा गया है—

बटक बीज जैसा ओंकारा, पसर्यो तीन लोक विस्तारा।

ओंकार का यह वर्णन क्या मान्ड्वयोपनिषद में किये गये वर्णन और योग शास्त्र के प्रणेता ऋषि पतंजलि के कथन की याद नहीं दिलाता? यही नहीं गौतम ऋषि के न्याय शास्त्र, कणादि ऋषि के वैशेषिक शास्त्र और कपिल मुनि के सांख्य शास्त्र में दिये गये इस सिद्धान्त की पुष्टि कि कार्य अपने उपादान—कारण में लीन होता है क्या संत रविदास की इस साखी में नहीं होती—

'जहां का उपज्या, तहीं समाय' ..... आदि

ऐसे विचारक भी हुए हैं कि जिनका मत था कि संतों का प्रभाव व्यापक और गहरा नहीं होता। होता भी कैसे? जिस समाज और जिस परिवेश में संतों का आविर्भाव हुआ उसमें हिन्दुत्व, राजनीति और समाज की बागडोर जिस तबके के हाथ में थी उसका समाज के तत्कालीन गठन और स्वरूप में निहित स्वार्थ था। वे एक नयी क्रांतिकारी विचारधारा और व्यवस्था को कैसे स्वीकार कर सकते थे। ये परिस्थितियां जैसा कि इतिहास साक्षी है संतों के बाद सदियों तक बनी रहीं। जो दलित थे, पीड़ित थे उनमें से यदि किसी में कल्पना या भावना थी तो साहस नहीं था। केवल संतोष, सहनशीलता और जगत-नियंता पर विश्वास ही उनके सामने एकमात्र रास्ता था। उधर समय बदला और इधर संतों ने भी जगत नियन्ता के स्वरूप का इतना सरल और बोधगम्य रूप ज़नता के सामने उपस्थित कर दिया कि समानता संसार के धरातल पर उतर आई। परिणाम यह हुआ कि निम्न जाति में उत्पन्न होने वाले संतों की चरण धूलि, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सभी गौरवपूर्वक अपने मस्तक पर धारण करने लगे।

देश और समाज को संत रविदास की एक अद्‌भुत और महत्त्वपूर्ण देन यह भी है कि उन्होंने अपने समय की पुरातनता और नवोन्मेष नवीनता को मिलाकर उसका एक सुगम और रचनात्मक स्वरूप उपस्थित किया। उन्होंने सभी संतों से अधिक देशाटन और भ्रमण किया था। समाज के हर क्षेत्र में वे रहे और बसे थे। भ्रमण के दौरान उन्होंने सभी तरह के लोगों के ज्ञान, उनकी भाषा और शब्दावली की जानकारी अर्जित की थी। फलस्वरूप संत रविदास की भाषा में वस्तुतः तत्कालीन उत्तर भारत की सभी भाषाओं और बोलियों का प्रयोग मिलता है जिससे उनकी भाषा सामान्य जनता के लिए ग्राह्य हो गयी और उसका रचनात्मक परिणाम यह हुआ कि वहीं से राष्ट्रीय एकसूत्रता की भाषा के निर्माण का शुभ कार्य भी प्रारम्भ हो गया।

संत रविदास को जैसा कि ऊपर कह आया हूँ मैं संतों में सर्वश्रेष्ठ मानता हूँ। मेरी यह मान्यता केवल मेरी ही नहीं है। भक्त माल ने उनके सम्बन्ध में मुझसे बहुत पहले निम्नलिखित सम्मानजनक पंक्तियां लिखी थीं :

संदेह ग्रन्थि खंडन निपुन, बानी विमल रैदास की।
सदाचार श्रुति शास्त्र वचन अबिरुद्ध उचार्‌यो।
राज सिंहासन बैठि, ज्ञाति परतीती दिखाई
वर्णाक्रम अभिमान तज, पदरज बन्दिसि जासुकी
संदेह ग्रंथ खंडन निपुन वानी विमल रैदास की।।

कबीर ने जो उनके समसामयिक थे, उन्हें 'संतों में संत रैदास' कहकर सम्बोधित किया। संत धन्ना भगत ने उन्हें बड़ा 'निस्पृह और त्यागी' बताया। झाली रानी और मीरा ने उन्हें अपना गुरु बनाया।

देश और देश के समाज के कल्याणार्थ देवदूतों के सदृश्य आये इन अति महान संतों ने जन-चेतना की जो मशाल प्रज्वलित की थी और जिसकी चिनगारियाँ स्थान-स्थान पर चमकी भी थीं उन्हें देश और देश की व्यवस्था ने पूरी तरह प्रज्वलित होकर प्रकाश फैलाने का अवसर नहीं दिया। किन्तु देश के आजाद होने और लोकतंत्र स्थापना के बाद उनसे यह आशा अवश्य है कि वे हमारे समाज में सारे कलुष को जलाकर खाक कर सकती है किन्तु हमारा और हमारे समाज का इसे दुर्भाग्य ही कहा जायेगा कि संतों की वाणी के प्रभाव से जिस एकत्व का प्रारम्भ हुआ था वह वर्तमान स्थिति में पुनः और पहले से अधिक अलग-अलग हो रहा है। संत रविदास का यह संक्षिप्त जीवन परिचय पाठकों को संतों और उनकी वाणियों के प्रति आकर्षित करके उन्हें जाति-पांति और क्षेत्रीयता जैसे तुच्छ भावनाओं से ऊपर उठाकर देश और समाज की एकता, समानता और पारस्परिक मातृभाव की ओर उन्मुख कर सके, यही इस लेखक की आशा और हार्दिक इच्छा है।

मंगलवार 9 जून, 1998

वीरेन्द्र पाण्डेय

विषय–सूची

संत–काव्य

संत मत के आविर्भाव और उसके महत्त्व के सम्बन्ध में विद्वानों में भले ही मतभेद हों किन्तु यह तथ्य सर्वमान्य है कि संतों की वाणी में जन–चेतना व्यक्त हुई है, उसमें एक नयी दृष्टि है, मनुष्य की नैसर्गिक समानता की पुकार है, एक नये सामाजिक संगठन की माँग है और है जगत्–नियंता के एक ऐसे स्वरूप की अर्चना जो विभेद और पार्थक्य का नहीं, एकता का प्रतीक है। संतों ने अपनी वाणी द्वारा पूरे समाज में चिनगारियाँ छिटका दी थीं जिनमें से कुछ तो बुझ गयीं और कुछ धीरे–धीरे सुलगती रहीं। यह सही है कि वे तुरन्त ही किसी मशाल का रूप नहीं ले सकीं किन्तु उन्होंने सामाजिक क्रान्ति के ऐसे बीज अवश्य बो दिये जिन्होंने आगे चलकर समाज के नये संगठन की संभावना को मज़बूती प्रदान की।

भारत के आस्तिक समाज में संतों ने ईश्वर के जिस रूप का वर्णन किया, वह तत्कालीन शिक्षित या विज्ञ समाज के लिए अनोखा नहीं था किन्तु समाज के एक बड़े हिस्से के लिए नवीन अवश्य था। मानव समाज की समानता से सम्बन्धित प्राचीन शास्त्रीय दार्शनिकता उस समय स्थिर होकर मात्र उत्तुंग ऊँचाइयों की बहुत सँकरी घाटियों तक सीमित थी। उसे, उस समय सामान्य जीवन में उतारने की बात सोची भी नहीं जा सकती थी। संतों ने मानव–समानता के दर्शन को संसार के धरातल पर ला उतारा। भक्ति की ऐसी सरस और सरल गंगा उन्होंने प्रवाहित की कि उसमें पढ़े और कढ़े दोनों प्रकार के जनसमुदाय तरंगायित होने लगे। फलस्वरूप, निम्न समझी जानेवाली जातियों में उत्पन्न संतों की चरण–धूलि को ब्राह्मण भी गौरव के साथ लेने लगे।

जिन विद्वानों का यह कथन है कि संत मत का प्रभाव व्यापक और गहरा नहीं हुआ, उन्हें सुप्रसिद्ध विद्वान्, साहित्यिक एवं समाज सुधारक श्री वियोगी हरि के उस कथन पर विचार करना चाहिए जिसमें उन्होंने कहा था– 'निम्न वृत्तियों या वासनात्मक पशु–प्रवृत्तियों और इसी प्रकार की तर्कवितर्कात्मक वृत्तियों को धक्का देकर आगे ही आगे बढ़ते हुए जिस वाणी ने झीने–झीने अनदेखे और अनसुने पथ पर डग पर डग भरे और अंतर के रस को मानव के सूने आँगन में बिखेरा, उस संत वाणी से कौन मतिमूढ़ अपने आपको कृतार्थ नहीं करना चाहेगा? जिस औघट घाट पर संत वाणी खड़ी है, वहाँ पर न तो कोई लीक है और न कोई रेखा। संत वाणी ने ऐसी मीठी–मीठी बोली में संकेत–भरे बोल बोले हैं जो हर भाव और रूप में जानी–पहचानी–सी लगती

है। वेद–शास्त्रों की बड़ी–बड़ी गुत्थियाँ जिन अनपढ़ों और अनलिखों के खुरदुरे हाथों से सहज ही खुल गयीं, उनकी वाणी से ऐसा कौन अभागा होगा जो अपने अंतर को निर्मल न करना चाहेगा। पंडितों और मुल्लों ने खीज–खीजकर दाँतों तले उँगली दबायीं कि जिस जौहर का उन्हें भी आभास नहीं था, उसे अटपटे निम्नवर्गीय लोगों ने खोल–खोलकर रख दिया। वाणी ने इन संतों की ''राम–मढ़ैया'' की रसवन्ती मेहमानी पाकर अपने आपको कृत–कृत्य माना।'

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन ने संत काव्य को हिन्दी साहित्य का उच्चतम अंग माना है। उनका कहना है कि कुछ पुराने आलोचकों ने उस साहित्य के प्रति उदासीनता दिखायी है और संतों की वाणियों की, हिन्दी के ऊँचे साहित्य में गणना नहीं की है। मैंने बहुत वर्ष पहले निवेदन किया था कि मेरे विचार में हिन्दी साहित्य में कबीरदास जी का स्थान बहुत ऊँचा है। इसी परम्परा में सदन, पीपा, नाभा, रैदास, पलटू, दादू, जगजीवन दास आदि अन्य कवि हैं। इन सबों की एक विशिष्ट शैली है जो साधारण छन्द–रीति और अलंकारों तथा भाषा पाण्डित्य से हटकर चलती है। आत्मा का साक्षात्कार कराने और मन को पवित्र करने तथा उसमें आध्यात्मिक भावना भरने की अद्‌भुत शक्ति इन वाणियों में है।

कबीर के शब्दों में 'संतों में संत रविदास' भारत की उन विभूतियों में से हैं जिन्होंने सद्‌विचारों और सद्‌भावनाओं की सृष्टि कर इस देश के जन समाज को आध्यात्मिकता का आधार प्रदान किया और अपनी 'संदेह ग्रंथि खंडन–निपुण विमल वाणी' द्वारा एक ऐसा प्रमाण प्रस्तुत किया जिससे यह सिद्ध होता है कि मनुष्य अपनी अडिग निष्ठा, लगन, पुरुषार्थ और सच्ची भगवत–भक्ति से भौतिक स्तर से ऊपर उठकर विशाल मानव समुदाय का हृदय–सम्राट् बन सकता है। संत रविदास उन महात्माओं में से हैं जिनके द्वारा हमारे समाज को निष्प्राण और प्रगतिहीन बनानेवाली रूढ़ियों का खंडन हुआ है और एक नवीन जीवन–दर्शन की प्रेरणा मिली है। संतों की मस्ती ने साहित्य में एक नया रंग ला दिया। उनकी कृतियों में काव्य के प्रमुख लक्षण आत्मविभोरता और तादात्म्य को जैसा निखार मिलता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। सिर देकर प्रेम की मस्ती का मज़ा लेना इन संतों से अधिक किसने सीखा है–

''कहै कलाली प्याला देऊँ
पीवन हारे का सिर लेऊँ''

— संत रविदास

हमारी चिंतन मान्यताओं को आत्मसात् कर कृत्रिमता से मुक्त जन साधारण के लिए सुबोधवाणी में अभिव्यक्त होनेवाली संतों की वैयक्तिक अनुभूतियों ने उन मान्यताओं को एक नया जीवन, एक नया दर्शन और एक नयी प्रेरणाशक्ति अथवा सामर्थ्य प्रदान की है जिससे सम्पूर्ण संतकाव्य साहित्य के उच्चतम अंग के रूप में प्रतिष्ठित हो सका है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

सातवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध भारतीय इतिहास की वह सीमा है, जब भारत की संगठित शक्ति का ह्रास आरंभ हो चुका था। हर तरफ़ विभाजक शक्तियों का बोलबाला था, प्राचीन आदर्श क्षीण हो रहे थे, राष्ट्रीय भावना का क्षेत्र काफ़ी संकुचित हो चुका था। पूरा देश छोटे–छोटे राज्यों में विभक्त था। शासकों में जनसेवा के स्थान पर वैयक्तिक महानता, घमंड और गुरुडम की प्रवृत्तियाँ पनप रहीं थीं। छोटे से छोटा राज्य भी अपने आपमें राष्ट्र का एक विकसित रूप देखने लगा था। कुछ छोटे और निर्बल राष्ट्रों को तबाह कर राजसूय यज्ञ पूरा करके चक्रवर्ती सम्राट् बनने की शेखी पूरी की जा रही थी। उनकी राजनीति अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति और झूठे दम्भ के प्रदर्शन तक सीमित थी। छोटी–छोटी साधारण घटना और वैयक्तिक इच्छाओं की पूर्ति राज्यों के उत्थान–पतन का कारण बन रही थी। सब तरफ़ अशान्ति और बेचैनी थी। कोई भी नागरिक कभी भी निश्चिंत होकर यह नहीं सोच पा रहा था कि आनेवाला सवेरा युद्ध की विभीषिका लायेगा या आतंक और आशंका का संत्रास।

युद्ध और संघर्ष के इस युग में देश का राजनैतिक शासन, राठौर, सोलंकी, पँवार, कछवाहा, परिहार, चन्देल, तोमर, जाट, अहिर, गहलौत और चौहान आदि वंशों के हाथ में था। लगभग सभी राजे–महाराजे अपनी व्यक्तिगत आन–बान और मार्यादा को राज्य और राज्य के निवासियों की सुख–शान्ति की अपेक्षा अधिक महत्त्व प्रदान करते थे। फलस्वरूप विप्लव और विध्वंस के हृदयविदारक दृश्य लगभग नित्य ही देश में किसी न किसी हिस्से में उपस्थित होते रहते थे।

ऐसी अनिश्चित राजनैतिक परिस्थितियों एवं निरंतर युद्ध की आशंका के वातावरण में सामाजिक जीवन, एक लम्बे अर्से तक निरंतर चिंतित और भयभीत रहने के कारण निराश और निरुपाय हो गया था। दबे–सहमे हुए जन समुदाय के पास सुबह–शाम अपनी सुरक्षा और कुशलता के लिए ईश्वर से दुआएँ माँगने के अलावा दूसरा कोई चारा न था।

आम आदमी राजनीति और राजकीय व्यापार से पूरी तरह कटा हुआ था। उसे हर हाल में अपनी ज़िन्दगी की सुरक्षा और शान्ति के साथ दो जून की रोटी की जरूरत थी। इसके लिए भी उसके पास केवल ईश्वर की आराधना के अलावा दूसरा कोई उपाय न था। दूसरी ओर थे वे तथाकथित संरक्षक शासक जो जैसा कि हम ऊपर बता आये हैं, वंश और परम्परा के अनुसार अपने राजा होने के सौभाग्य के गरूर में इतने डूबे हुए थे कि उन्हें अपनी प्रजा के बारे में सोचने–समझने का समय नहीं था। शान और गुमान के फेर में उनका ज्यादातर समय पड़ोसी राज्यों से युद्ध करते बीतता था। युद्धों के बीच जो भी समय मिलता था, उसमें वे अपने स्वल्प जीवन में अधिक से अधिक भौतिक सुखों का उपभोग कर लेने के चक्कर में रहते थे।

देशी नरेशों की इस भावना को और भी उद्दीप्त किया वीर या चारण काव्य की रचना करनेवाले भाटों या चारणों ने। इन्होंने काव्यों में राजाओं और नरेशों के आत्माभिमान, मर्यादा,

प्रेम और शान–गुमान को दृष्टि प्रदान की। छोटे–छोटे राज्यों से लेकर बड़े–बड़े सम्राटों के दरबार में चारणों को आश्रय प्राप्त हुआ और उन्होंने अपने संरक्षक शासकों के व्यक्तित्व की अतिरंजित विरुदावलियाँ गाकर एक तरफ़ उन्हें उनके राज्य की वस्तुस्थितियों से अनभिज्ञ रखने का प्रयास किया और दूसरी ओर अपनी आय और सम्मान की सुरक्षा भी की। चारण काव्य का उद्देश्य अपने संरक्षक को प्रसन्न रखने तक ही सीमित था। भीतर ही भीतर प्रतिदिन खोखले होनेवाले राजा–महाराजाओं के व्यक्तित्व को ऊपरी सजावट से सजाने तथा रोगी को रोग से बेखबर रखने की कला में चारण काव्य निःसंदेह सफल रहा। उनके प्रयासों को काव्य साधना या कला की उपासना कहना उचित नहीं है। अपने ही दरबार में अपने द्वारा पाले गये चारणों या भाटों से अपनी ही विरुदावलियाँ सुनने के शौकीन शासकों का उत्तरोत्तर पतन होता गया और बेचारी गरीब और असहाय जनता अपने ही शासकों के मिथ्याभिमान, झूठे हठ और अहंभाव पर बलिदान होती गयी। शासकों के खेमे उखड़ चले, भाटों के कंठ अवरुद्ध हो चले और देश का समस्त जनसमुदाय निराशा के गहरे अंधकार में डूबता चला गया। आत्मबल क्षीण हो गया। सर्वत्र व्याप्त गहरी निराशा के वातावरण में हर कोई हतोत्साहित होता गया। ऐसी दयनीय स्थिति आ गयी कि ईश्वर का नाम लेने के अतिरिक्त आदमी के पास कोई दूसरा उपाय न रहा।

डॉ. राम कुमार वर्मा ने इस युग पर टिप्पणी करते हुए अपने 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' नामक ग्रंथ में लिखा है– 'इस असहाय अवस्था में उनके पास ईश्वर से प्रार्थना करने के अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं था। वे ईश्वरीय शक्ति और अनुकम्पा में विश्वास रखने लगे थे। कभी–कभी यदि वीरत्व की चिनगारी कहीं दीख पड़ती थी तो वह दूसरे ही क्षण बुझ जाती थी या बुझा दी जाती थी। इस प्रकार दुष्टों को दंड देने का कार्य उन्होंने ईश्वर पर छोड़ दिया और वे सांसारिक वस्तुस्थिति से परे पारलौकिक और आध्यात्मिक वातावरण में ही विहार करने लगे। हिन्दू राजा और प्रजा दोनों के विचार भक्तिमय हो गये ओर वीरगाथा काल की वीर रसमयी प्रवृत्ति धीरे–धीरे शृंगार रस में परिणत होने लगी।'

संत काव्य का उद्‌भव

सामाजिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों के इस वर्णन से किसी पाठक को यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि संत काव्य के पहले जनता में धार्मिक भावना का सर्वथा लोप था। चारण काव्य के काल में ही धर्म की एक अन्य धारा मिलती है जो 'नाथपन्थ' के नाम से प्रसिद्ध है और जिसके प्रवर्तक गुरु गोरखनाथ माने जाते हैं। यह धारा पूर्णतः धार्मिक थी और इसमें 'हठयोग' की प्रधानता थी। संत काव्य के स्वरूप–निर्माण में देश की राजनीति एवं सामाजिक परिस्थितियों का योगदान तो था ही किंतु उसकी आधारभूत विचारधारा को वस्तुतः गोरखनाथ के 'नाथपन्थ' से प्रेरणा प्राप्त हुई थी। गोरखपंथी धर्म दार्शनिकता की दृष्टि से शैव मत का ही एक अंग कहा जा सकता है। किन्तु, व्यावहारिक रूप में यह पंतजलि के हठयोग से सम्बन्धित है।

वैदिक धर्म की दुरूहता, ब्राह्मणों के धर्माडम्बरों और युद्ध के बाद बौद्ध धर्म में आ जानेवाले गतिरोधों के विरुद्ध सर्वहारा, मज़दूर एवं आश्रित समाज के धार्मिक जागरण का श्रीगणेश गुरु गोरखनाथ के कनफटे पंथ से ही हुआ है।

नाथपंथ के अनुयायी कवियों ने अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए जनता की भाषा को अपनाया। फलस्वरूप, तत्कालीन साहित्य में उनके काव्य की उपेक्षा की गयी। ईश्वर की भावना के सम्बन्ध में नाथपंथी 'शून्यवाद' में विश्वास करते थे। इसी 'शून्यवाद' के विषय में आचार्य क्षिति मोहन सेन ने लिखा है कि महायान की साधना में शून्य का महत्त्व ही अनेक प्रकार से सुख और ऐश्वर्य से पूर्ण हो, क्रमानुसार परिवर्द्धित हुआ। इसके बाद बौद्ध धर्म अपने मध्य काल में, शून्य से और सम्बद्ध हो गया। बज्रयान के योग और आचार मतावलम्बियों की कृपा से 'शून्यवाद' आगे चलकर विश्व का तत्त्व हो गया। शून्य को छोड़कर संसार में देवी–देवताओं का अस्तित्व ही कुछ न रह गया और आम तौर पर यह माना जाने लगा कि शून्य के अतिरिक्त सभी माया है।

यही 'शून्य' क्रमानुसार अलख निरंजन होकर नाथपंथ, निरंजन पंथ आदि मतों में स्थान पा गया। गोरखनाथ आदि योगियों के मत में तो इसने विशेष स्थान प्राप्त किया। औघड़ पंथ में भी शून्यवाद का स्थान गौरवपूर्ण है। चौरासी सिद्धों के उपदेशों में एक सम्पूर्ण भाग शून्य की ही गुणगाथा का विस्तार है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सिद्ध परम्परा का विकसित स्वरूप अर्थात् नाथपंथ की अनेक प्रवृत्तियाँ आगे चलकर संत काव्य का आधार बनीं। संतों ने भी जनता की भाषा को अपनाया। कबीर हालाँकि सिद्धों की सिद्धि में कहीं न कहीं शंका रखते थे किंतु हठयोग के मोह को वह भी नहीं छोड़ सके। उनके काव्य में अनेक स्थानों पर इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना और कुंडलिनी के सहारे "अनहद–नाद" सुनने का उल्लेख हुआ है। यह इस बात का प्रमाण है कि वह हठयोग से प्रभावित थे और उसमें उनकी आस्था थी।

इसी नाथपंथी 'शून्य' को कबीर ने आगे चलकर "सहस्रदल–दल–कमल" का शून्य माना, जहाँ अनहदनाद की सृष्टि और ईश्वर की ज्योति के दर्शन होते हैं। इसी शून्यवाद की भावना से प्रेरित होकर अन्य संत कवियों की भाँति संत रविदास भी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं–

"सहज सुन्न में रह्यो बिलाई।"

एक अन्य स्थान पर संत रविदास इसी बात का सविस्तार विवेचन के साथ पुनः कहते हैं–

निश्चल, निराकर अज, अनुपम, निर्भय गति गोविन्दा,
अगम अगोचर, अक्षर, अतरक निर्गुन अति अनन्दा।
सदह अतीत ज्ञान धन वर्जित, निर्विकार अविनासी
कह रविदास सहज सुन्न, सत . . . .।

इस तरह हम देखते हैं कि संत काव्य या संत मत अपने बीज रूप में सिद्धों के समय से ही प्रारम्भ होता है यद्यपि आगे चलकर उसके अंतर्गत भी विभिन्न पंथों एवं धाराओं की स्थापनाएँ हुईं। किन्तु, एक तथ्य जो उन सभी धाराओं में समान रूप से मिलता है, वह यह है कि उनमें कुछ प्रवृत्तियाँ ऐसी भी हैं जो अपने विकसित या अर्द्ध विकसित रूप में सिद्ध परम्परा अथवा नाथपंथ से आयी हैं। अतः, हम निःसंकोच भाव से स्वीकार कर सकते हैं कि संत परंपरा अथवा संत काव्य को प्राप्त होनेवाली प्रारंम्भिक प्रेरणा "नाथपंथ" से आयी है और उसका शून्यवाद संतों की संगति में निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा के रूप में परिवर्तित हुआ है।

संत रविदास सहित लगभग सभी संतों के काल में राजनैतिक क्षेत्र में मुसलमानों का आधिपत्य था। हिन्दू शासक लगभग समाप्त हो चुके थे। विदेशी मुसलमानों के आतंक से जहाँ एक ओर हिन्दू जनता भयभीत, निरुत्साहित और निराश थी, वहीं विजेताओं की इस्लाम धर्म के प्रचार की प्रवृत्ति उन्हें चिंतित और प्रताड़ित कर रही थी। यह सही है कि मुसलमान भी हिन्दुस्तान को अपना घर समझने लगे थे, उनमें युद्ध का उन्माद समाप्त हो रहा था और वे चैन–अमन के साथ रहना पसंद करने लगे थे।

राजनैतिक शक्ति से हीन, दुर्बल हिन्दू समाज न मुसलमानों से खुली टक्कर ले सकता था और न वह अपना धर्म छोड़ना चाहता था। उधर, राज्य प्रसार के कार्यों में उनकी सफलता बहुत से मुसलमानों को इस्लाम धर्म के प्रचार का सवाब लूटने के लिए उकसाती रहती थी। इस तरह धर्म के क्षेत्र में संघर्ष जारी था। हिन्दू जनसमुदाय राजनैतिक शक्ति से हीन होकर दुर्बल और असहाय हो चुका था।

ब्राह्मणों ने, जो तत्कालीन धर्मक्षेत्र के अधिष्ठाता थे, धार्मिक संघर्ष से बचने के लिए धर्म को संकुचित करने में भला समझा। धर्म को संकुचित करने की प्रक्रिया में सनातन धर्म का व्यापक स्वरूप कर्मकाण्ड के नियमों में बँधकर सीमित हो चला। मौलवियों और ब्राह्मणों में होड़–सी लग गयी। एक हड़पना चाहता था और दूसरा आत्मरक्षार्थ अपने क्षेत्र को कड़े से कड़े नियमों में बाँधकर उसे संकुचित और सीमित कर रहा था। धर्म के दोनों ठेकेदार परस्पर संघर्ष में व्यस्त थे। इस संघर्ष का परिणाम भुगतना पड़ा सामान्य हिन्दू और मुसलमान जनता को। हिन्दू धर्म की परिधि इतनी संकुचित हो गयी थी कि जनसाधारण के लिए उसके द्वार लगभग बंद हो गये। मानवीय गुणों और धर्म के सार अंश को भूलकर लकीर पीटना ही धर्म की पहचान बन गयी थी। हिन्दू समाज में एक बड़े समुदाय के लिए लकीर पीटने का काम भी निषिद्ध था। उसमें धर्म और मर्यादा के नाम पर शोषण और उत्पीड़न का दौर चल रहा था। देश के श्रमिक, मज़दूरों और अंत्यजों का वर्ग कहाँ तक सहन करता? फलस्वरूप प्रचलित व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह की जो भावनाएँ एक लम्बे अरसे से पनप रहीं थीं, वे संत कवियों की साखियों से प्रेरित हो भड़क उठीं और इस तरह संतों ने जनजागरण के एक ऐसे महान् यज्ञ का आह्वान किया जो नयी सामाजिक क्रान्ति का प्रतीक था और जिसमें एक नये सामाजिक गठन की संभावना के बीज थे। तत्कालीन दाकियानूसी व्यवस्था से क्षुब्ध एवं प्रताड़ित जनसाधारण ने एक स्वर से संतों का समर्थन और अनुगमन किया। ज़ाहिर है कि संतों ने जिस धार्मिक विचारधारा को अपनी साखियों

के द्वारा जन–जन तक पहुँचाया, उसे प्राचीन रूढ़ियों के भक्तों और काव्य को उसकी शास्त्रीय कसौटी पर कसनेवालों ने नकारने का प्रयास किया किन्तु जनहित के ज्वार को भला कोई ठंडा कर सकता है?

संतों ने समय की नब्ज़ को समझा था, उसके परिणामों को देखा और झेला था। इसीलिए उन्होंने "धर्म खतरे में है" की घण्टी बजानेवाले "शेखों" और "बिरहमनों", दोनों के सम्मुख ईश्वर की एक ऐसी अवधारणा प्रस्तुत की जो हिन्दू और मुसलमान दोनों को ग्राह्य हो सके। दोनों समुदायों में ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में भी विवाद था। अतः, संतों ने निर्गुण, निर्विकार और निराकार ब्रह्म की कल्पना कर संघर्ष के मूल को ही उखाड़ फेंका। उन्होंने ऐसे ईश्वर की परिकल्पना प्रस्तुत की जो कबीर के शब्दों में पुष्प की गंध से भी पतला है, उसके न मुख है और न मस्तक, रूपवान् या कुरूप होने का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि वह एक है और निराकार है। संत रविदास ने इसी भावना का उल्लेख अपने एक पद में इस प्रकार किया है–

विमल एक रस उपजै ना विनसै, उदय–अस्त दोऊ नाहीं।
विगता गंत, घटै न कबहूँ, बसत बसै सब माहीं।
निश्चल, निराकार अरु अनुपम, निर्भय गति गोविन्दा।
अगम अगोचर अक्षर अतरक निर्गुन अति अनन्दा।

दूसरे शब्दों में संत रविदास के अनुसार हिन्दुओं के राम और मुसलमानों के रहीम वस्तुतः भिन्न न होकर एक ईश्वर के ही दो भिन्न नाम हैं।

इस भावना से, जो हमें वेदान्त सूत्र में भी मिलती है, हिन्दू और मुसलमान दोनों को राहत मिली और दोनों समुदाय परस्पर निकट आने का प्रयास करने लगे। कर्म काण्ड के आडम्बर अभी दोनों धर्मों में मौजूद थे। संतों ने अपनी वाणी द्वारा उसे भी जर्जर बनाया। उन्होंने मुल्ला–मस्जिद, ब्राह्मण–मन्दिर, व्रत और रोजा के ढकोसलों से ऊपर उठकर सच्ची ईश्वर भक्ति का संदेश दिया। मूर्ति–पूजा और अवतारवाद के साथ ही उन्होंने हलाल और रोज़े का भी डटकर विरोध किया। इन सभी धार्मिक बाह्याडम्बरों को सारहीन कहकर संतों ने ईश्वर के तात्त्विक स्वरूप की मीमांसा करते हुए एक ऐसे सरल धर्म की स्थापना की जो सर्वसुलभ और सर्वग्राह्य था। उन्होंने इस्लाम और सनातन धर्म के परस्पर विरोधी कर्मकाण्ड को धिक्कारा और इन दोनों धर्मों के सार तत्त्व को लेकर अपने नये पंथ की सृष्टि की। उनमें से बहुतों ने ब्रह्म और माया के महत्त्व को स्वीकार किया–

नाथ कछु अनजानों, मन माया के हाथ बिकानो – संत रविदास

❖ ❖ ❖ ❖ ❖

माया तजू, तजी नहि जाय, फिर फिर माया मोहि लपटाय – कबीर

सूफ़ी विचारधारा का प्रभाव

मुसलमानों का आधिपत्य जमने के बाद हिन्दू और मुसलमान दोनों ही, कालान्तर में, इस बात का अनुभव करने लगे कि युद्ध, कलह और संघर्ष से दोनों पक्षों को हानि होती है। यह सही है कि उस समय के मुसलमानों में तलवार के ज़ोर पर इस्लाम के प्रचार की प्रवृत्ति जागरूक थी फिर भी, इस तथ्य के साक्ष्य भी मिलते हैं कि मुस्लिम समुदाय में एक तबका ऐसा भी था जो हिन्दुओं और हिन्दू धर्म के प्रति उदारता और स्नेह की भावनाएँ रखाता था। कुछ मुसलमान शासक ऐसे भी हुए हैं जिनकी नीति हिन्दुओं के प्रति उदार रही है। उदाहरणार्थ, शेरशाह ने अपने शासनकाल में उल्माओं की उपेक्षा करके हिन्दुओं के साथ उदारता बरती थी। शासकों के अतिरिक्त, कुछ मुसलमान ऐसे भी हुए जिन्होंने हिन्दू धर्म में दिलचस्पी ली और उसे समझने का प्रयत्न किया। ये लोग सूफी कहलाते थे। सूफ़ी लोग किसी भी मत का खंडन नहीं करते थे। सूफ़ी मत में "बन्दा" और "ख़ुदा" भिन्न नहीं माने जाते हैं। 'शैतान' के षड्यंत्रों में फँसकर बन्दा (भक्त) कुछ समय के लिए भले ही ख़ुदा से दूर हो जाय किन्तु अंत में वह ख़ुदा में ही लीन हो जाता है। "ख़ुदा" से मिलने का एकमात्र माध्यम है "इश्क" और मिलने के लिए बन्दे को अपनी रूह (आत्मा) का शुद्धीकरण करना ज़रूरी माना जाता है जिसकी चार दशाएँ मानी ग़यी हैं :

१. शरीयत
२. तरीक़त
३. हक़ीक़त
४. मारिफ़त

"मारिफ़त" वह अंतिम दशा है जहाँ "रूह" (आत्मा) "बक़ा" (जीवन) प्राप्ति के लिए "फ़ना" हो जाती है। किन्तु, इस सबका आधार 'इश्क़' ही होता है। बिना 'इश्क़' के व्यक्ति इनमें से किसी भी अवस्था को नहीं प्राप्त हो सकता। "बक़ा" में "रूह" अपने को "अनलहक़" का अधिकारिणी बना सकती है और "अनलहक़" में रूह को "लाहूत" में प्रवेश मिलता है। "लाहूत" के पहले तीन जगत् और पड़ते हैं जिनसे "रूह" को गुज़रना पड़ता है तथा जिनमें 'रूह' अपने–अपको 'पवित्र' करती है। 'लाहूत' चौथा जगत् है, जिसमें रूह का मिलन "हक़" से होता है और तब दोनों एकाकार हो ज़ाते हैं।

सार रूप में सूफी मत का जो परिचय ऊपर दिया गया है, उसकी उदारता और सरलता की ओर संत कवि यथेष्ट रूप से आकर्षित हुए। इसी मत से प्रभावित होकर जिन संत कवियों ने इसका सम्मिश्रण अद्वैतवाद से किया है, उन्होंने 'रहस्यवाद' की सृष्टि की है। रहस्यवादी भावनओं को व्यक्त करने में कबीर अगुआ थे।

'रहस्यवाद हिन्दी साहित्य में संत कवियों की अपूर्व देन है। इसका जो विकसित रूप हमें उनकी उक्तियों में मिलता है, वह निःसंदेह भारतीय अद्वैतवाद और सूफी मत के सम्मिश्रण

पर आधारित है। उसमें प्रेम की प्रधानता है। आत्मा ब्रह्म में मिलकर एक हो जाती है और दोनों में कोई अंतर या भिन्नता नहीं रहती।

ब्रह्म अथवा परमात्मा को माता, पिता, पत्नी, प्रियतमा एवं सखा के रूप में देखना या उसकी उपासना करना ही रहस्यवाद है क्योंकि लौकिक अर्थों में न वह माता है, न पिता, न पत्नी, न प्रियतमा और न सखा है। "रहस्यवाद" की मुख्य भावना आदिकाल से ही चली आ रही है। ऋग्वेद की एक ऋचा में परमात्मा का स्मरण पिता के रूप में किया गया है। उपनिषदों और गीता में भी भारतीय रहस्यवाद का समुचित विकास हुआ है। सर्वात्मवादमूलक रहस्यवाद भारतीयों की ब्रह्म–जिज्ञासा का फल है। सर्वात्मवादी, कल्पनाओं और भावुकता का आधार लेकर जब अपनी ब्रह्मवादी भावनाएँ व्यक्त करता है तो रहस्यवादी उक्तियों की सृष्टि होती है। लौकिक दृश्यों को वह उसी रूप में नहीं देखता है जिसमें साधारण जनसमुदाय देखता है। संसार के विभिन्न रूपों में वह ब्रह्म के विभिन्न स्वरूपों का अनुभव करता है। सूफी मत के सम्पर्क में आने के बाद भारतीय सर्वात्मवादमूलक रहस्यवाद में प्रचुर मात्रा में "माधुर्य भाव" आ गया। दार्शनिकों ने ब्रह्म को पुरुष और सृष्टि को प्रकृति (स्त्री) के नाम से सम्बोधित किया है। सूफी उपासना का माधुर्य भाव इसी का एक भावुक रूप है। इस प्रकार सूफी मत और भारतीय सर्वात्मवादमूलक रहस्यवाद के सम्मिश्रण में ब्रह्म की उपासना "पति" के रूप में की गयी है तथा नाना प्रकार के लौकिक दृश्य "पत्नी" आथवा "प्रियतमा" के रूप में देखे गये। विवाह से पूर्व अनुराग, तत्पश्चात् मिलन अथवा वियोग और अंत में विवाह आदि की श्रेणियों से होती हुई जीवात्मा का ब्रह्म से चिर मिलन होता है। जीवात्मा का परमात्मा से मिल जाना तथा दोनों का एकरूपता को प्राप्त कर लेना ही रहस्यवाद के आदर्श की पूर्ति है।

रहस्यवाद की भावना संत कवियों में अपने विभिन्न रूपों एवं भिन्न–भिन्न मात्रा में पायी जाती है। कबीर की वाणी में इसकी प्रचुरता है और उनका रहस्यवाद प्रधान रूप से भावमय रहा है। संत रविदास के अनेक पदों में भी हमें रहस्यवाद की झलक मिलती है। कुछ पद तो ऐसे मिलते हैं जिनमें संत रविदास की रहस्यवादी भावना कबीर की भाँति ही सरस और भावमयी बन गयी है। उनमें अनुभूति का वही घनापन है जो हमें कबीर में मिलता है।

जहाँ तक अनुभूति की अभिव्यक्ति का सम्बन्ध है, संतों ने उसके अनेक प्रकार अपनाये हैं। भाषा और शब्दावली का अभाव तो उसमें था ही। इसलिए भावनाओं को व्यक्त करने के लिए उन्हें "रूपक भाषा" अर्थात् "लैंग्वेज ऑफ सिम्बल्स" का सहारा लेना पड़ा। संत कवियों में अधिकांशतः कबीर और रविदास ने "रूपक भाषा" का उपयोग किया है। किन्तु, संत रविदास ने अपनी वाणी को जनसाधारण के लिए बोधगम्य बनाने की दृष्टि से अपने रूपकों को अपेक्षाकृत सरल और स्पष्ट रखा है।

स्वामी रामानन्द और वैष्णव मत

महान् कर्मयोगी संत शिरोमणि रविदास जी आचार्यप्रवर स्वामी रामानन्द के शिष्य थे। मुसलमानी प्रभाव और देश की तत्कालीन परिस्थितियों ने संत साहित्य के विकास में भले ही महत्त्वपूर्ण योगदान किया हो किन्तु उसकी स्थापना का सारा श्रेय स्मार्त वैष्णव स्वामी रामानन्द को ही है। अपनी स्वतंत्र भक्ति और व्यापक विचारधारा से उन्होंने वैष्णव धर्म में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन के साथ ही उसे संत रविदास, कबीर, सेन, धना जैसे अनेक ऐसे महात्मा प्रदान किये जिन्होंने जनजीवन के अनेक क्षेत्रों में पथ–प्रदर्शन करने के साथ ही संत साहित्य की भी स्थापना की। भारतीय परम्परा के अनुसार शिष्य के महत्त्व के मूल में अधिकांशतः गुरु का व्यक्तित्त्व ही प्रधान होता है और शिष्य की महानता का सारा श्रेय गुरु के महत्त्व का अंश माना जाता है। अतः संत रविदास जी के जीवन और विचार–दर्शन पर विचार करने से पहले उनके गुरु स्वामी रामानन्द के जीवन और उनके महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवेचन करना हमारा कर्त्तव्य हो जाता है।

''इन्साइक्लोपीडिया ऑफ़ रेलिजन एण्ड इथिक्स'' के अनुसार वैष्णव मत की भावना का उद्भव ईसा के लगभग पाँच सौ वर्ष पहले हो चुका था। बौद्ध और जैन मतों की भावना की तरह वैष्णव मत की भावना को भी हम धार्मिक सुधार का एक माध्यम कह सकते हैं। इसमें भक्ति की भावना का प्राधान्य था और वही उत्तरोत्तर विकसित और परिवर्द्धित होकर भक्ति काल में राम–काव्य और कृष्ण–काव्य का आधार बनी। विष्णु का देवत्व और देवत्व की प्रधानता वैष्णव धर्म का आदि रूप है। विष्णु का निर्देश हमें सर्वप्रथम ऋग्वेद में मिलता है किन्तु उसमें विष्णु को वह स्थान नहीं प्राप्त है जो आगे चलकर वैष्णव मत के अनुयायियों ने माना है। वेदों में वर्णित विष्णु, पुराणों के विष्णु से भिन्न हैं। ब्राह्मण ग्रंथों में इनका और भी परिवर्तित रूप सामने आया। शतपथ ब्राह्मण में वे ''वामन'' के रूप में सामने आये। ऐतरेय ब्राह्मण से उन्हें ''विष्णुःपरमम्'' का रूप माना गया। मनुस्मृति में ब्रह्म को 'नारायणं' की संज्ञा दी गयी। किन्तु, आगे चलकर रामायण में विष्णु को ब्रह्म के स्थान पर विभूषित किया गया।

महाभारत एवं पुराणों में विष्णु को सतोगुणी, दयालु, पोषक, स्वयंभू और सर्वव्यापक के रूप में नारायण (जल के निवासी) स्रष्टा और प्रजापति की संज्ञा दी गयी है। विष्णु पुराण, ब्रह्म वैवर्त पुराण और भागवत पुराण में उन्हें सर्वशक्तिमय 'विष्णु' माना गया। उनके सहस्र नामों की कल्पना और उन नामों का भजन भक्ति का प्रधान अंग माना जाने लगा, यही वैष्णव धर्म की प्रथम भावना है। 'नारायण' की भावना में कुछ समय बाद ''श्रीकृष्ण'' की भावना का समावेश कर दिया गया। आठवीं शताब्दी में जब यह धर्म शंकर के अद्वैतवाद के सम्पर्क में आया तो अपनी भक्ति–भावना के कारण इसे शंकर के 'मायावाद' से मोर्चा लेना पड़ा और उसी के परिणामस्वरूप ग्यारहवीं शताब्दी में रामानुजाचार्य के 'श्री सम्प्रदाय' की स्थापना हुई जिसे आगे चलकर स्वामी रामानन्द ने व्यापक और लोकप्रिय रूप प्रदान किया।

वैष्णव धर्म का प्रचार सर्वप्रथम दक्षिण भारत में हुआ। "विट्ठल और विठोवा" नाम की उद्भावना से ओतप्रोत उपासना और भक्ति–भावना का दक्षिण में प्रचार करनेवालों में संत नामदेव और तुकाराम प्रधान हैं। बाद में धर्म की इस लहर का प्रचार उत्तर भारत में भी मुख्यतः चार आचार्यों द्वारा हुआ। इन चारों आचार्यों द्वारा इससे चार प्रमुख विभेदों की स्थापना भी की गयी। वे आचार्य और उनके द्वारा स्थापित विभेद इस प्रकार है :

१. रामानुजाचार्य–विशिष्टाद्वैत

२. मध्वाचार्य–द्वैत

३. विष्णुस्वामी–शुद्धाद्वैत

४. निम्बार्क–द्वैताद्वैत

विभेदों के साथ वैष्णव धर्म में कुछ बातें ऐसी भी थीं जो लगभग चारों आचार्यों को मान्य थीं। इन आचार्यों ने भक्ति और उपासना के द्वार मनुष्य मात्र के लिए खोल दिये थे। परम्परा से चले आ रहे अंधविश्वास को न मानकर ये चारों आचार्य इस बात पर सहमत थे कि भक्ति के क्षेत्र में जाति का बन्धन नहीं होता। उन्होंने शूद्रों को ईश्वर–भक्ति से वंचित नहीं किया। गुरु के महत्त्व को उन्होंने विशेष स्थान दिया और गुरु को ब्रह्म या उसका प्रतिनिधि माना। भक्ति सूत्र के लेखक द्वारा प्रतिपादित गोलोक अथवा वैकुंठ की प्राप्ति ही उनकी उपासना का लक्ष्य था। भौतिक रूप से साम्य रखते हुए भी इन चारों आचार्यों ने उपासना की भिन्न–भिन्न प्रणालियों एवं सिद्धान्तों को अपनाया जिसके फलस्वरूप आगे चलकर इन चार सम्प्रदायों की स्थापना हुई– रामानुजाचार्य का श्री सम्प्रदाय, मध्वाचार्य का ब्रह्म सम्प्रदाय, विष्णु स्वामी का रुद्र सम्प्रदाय और निम्बार्क का सनकादि सम्प्रदाय।

स्वामी रामनुजाचार्ज द्वारा स्थापित "श्री सम्प्रदाय" को स्वामी रामानन्द जी ने चौदहवीं शताब्दी में बहुत अधिक व्यापक और लोकप्रिय रूप प्रदान किया। श्री सम्प्रदाय के अनुयायी आज तक मौजूद हैं और रामानन्दी वैष्णव के नाम से पुकारे जाते हैं। स्वामी रामानन्द के विषय में प्रामाणिक जानकारी का लगभग सर्वथा अभाव है। एम.ए. मैकालिफ के अनुसार रामानन्दी सम्प्रदाय के अनुयायी अपनी सभी बातें गुप्त रखते थे। शायद यही कारण था कि स्वामी रामानन्द के जीवन के बारे में भी हमें कोई खास जानकारी उपलब्ध नहीं है। 'भक्तमाल' में उनके बारे में केवल एक पद्यांश मिलता है जिसमें केवल उनकी प्रशंसा और उनके प्रमुख शिष्यों के नाम दिये गये हैं। भक्तमाल सटीक में रामानन्द का जन्म संवत् १३५६ वि. माना गया है। सुप्रसिद्ध इतिहासकार तथा वैष्णव धर्म के विशेषज्ञ आर.जी. भाण्डारकर ने भी उसी संवत् को ठीक माना है। किन्तु, मैंने अपने शोधग्रन्थ में सभी तथ्यों का विवेचन करने के बाद इस निर्णय पर पहुँचना उचित समझा है कि स्वामी रामानन्द का जन्म विक्रमी संवत् १३६० से १४०५ तथा निर्वाण काल विक्रम संवत् १५०२ से १५१७ के बीच होना चाहिए।

स्वामी रामानन्द ने भक्ति के लिए जाति बन्धन को ढीला अवश्य कर दिया था, किन्तु वर्ण–व्यवस्था का मूलोच्छेदन नहीं किया था। उनके प्रमुख शिष्यों में उल्लेखनीय हैं– संत रविदास, कबीर, धना, पीपा, अनन्तानन्द, सुरेश्वरानन्द, योगानन्द, भैरवानन्द, सेना और पद्मावती।

●●●

संत रविदास का जीवनवृत्त

स्वामी रामानन्द के शिष्यों में संत रविदास का एक प्रमुख और महत्त्वपूर्ण स्थान है। भगवद्भक्ति के उच्चतम शिखर पर आरूढ़ होनेवाले महान् कर्मयोगी भक्त, संत रविदास के हृदय में जहाँ दलितों के प्रति दर्द और शोषितों के लिए स्नेह था, वहीं अपने समय में धार्मिक क्षेत्र में आधिपत्य जमानेवाले गुरुजन के लिए आदर का भाव भी था। भक्ति रस में प्रतिक्षण आत्मविभोर होते हुए भी उन्होंने अपनी दिव्य दृष्टि से समय और समाज की आधारभूत माँगों को पहचाना था। बुनियादी रूप में वे भक्त थे। किन्तु, उसके साथ ही, वे अपने युग के महानतम तत्त्वदर्शी, सामाजिक क्रान्ति के अग्रदूत, कवि और विचारक भी थे। अपनी विमल वाणी द्वारा उन्होंने पीड़ित और प्रताड़ित जन-समुदाय को नवजीवन प्रदान किया। समाज और संस्कृति के लिए विकास का नया पथ आलोकित किया और राष्ट्र के शिथिल पड़ जानेवाले अंगों–अवयवों में शक्ति का नया स्रोत प्रवाहित किया। भारतीय ऋषियों की परम्परा में उन्होंने सत्य, अहिंसा और अस्तेय के साथ–साथ कर्त्तव्य के प्रति निष्ठा को भी प्रतिष्ठित किया। श्रम के महत्त्व में विश्वास रखते हुए, निष्काम भाव से कर्त्तव्यरत रहना ही उनके जीवन का महानतम आदर्श था।

भारतीय दार्शनिक और संत महात्मा सदा ही परमार्थप्रिय रहे हैं। भगवद्भजन में लीन भारतीय ऋषि या संत अपना सर्वस्व समर्पण कर देता है। ब्रह्म में मिलकर एकाकार हो जाना ही उसका लक्ष्य रहा है। 'नाम और ध्यान' में वह इतना निमग्न हो जाता है कि उसे अपने स्वतंत्र अस्तित्व का ध्यान ही नहीं रहता। विज्ञप्ति और विज्ञापन का तो प्रश्न ही नहीं उठता। यही कारण है कि हमें अधिकतर प्राचीन ऋषियों, विचारकों, भक्तों और कवियों के सम्बन्ध में बहुत कम जानकारी प्राप्त हो सकी है। संत शिरोमणि रविदास के बारे में भी जानकारी के प्रामाणिक साक्ष्यों का सर्वथा अभाव–सा है। अधिकतर बाह्य साक्षियाँ ही हमें मिलती हैं। अतः केवल नाम, जाति, गृहस्थ जीवन और विचारधारा आदि कुछ तथ्यों की जानकारी ही हमें प्राप्त है।

नाम

संत रविदास के नाम के सम्बन्ध में विद्वानों में विशेष मतभेद नहीं है। धना भगत ने, जो रविदास के समकालीन थे, अपने एक पद में उन्हें "रविदास" नाम से पुकारा है–

"रविदास ढुवंता ढोरनी, तिनी तिआगी आइआ।"

गुरु ग्रंथ साहिब में सर्वत्र उन्हें "रविदास" की संज्ञा दी गयी है। उसमें संकलित उनके पदों में भी "रविदास" की छाप है। किन्तु, भक्तमाल में नाभादास ने उन्हें "रैदास" का नाम दिया है। मीराबाई के कई पद ऐसे मिलते हैं जिनमें "रैदास" का प्रयोग है। विभिन्न क्षेत्रों (राज्यों या प्रांतों) में वे "रविदास", "रूईदास", "रोहीदास", "रामदास" और "रैदास" नामों से प्रचलित हैं। जहाँ तक रूईदास, रोहीदास, रायदास आदि का प्रश्न है, यह अनुमान तर्कसंगत है कि वे रविदास या "रैदास" के बिगड़े हुए रूप हैं। किन्तु, इन दोनों नामों में से कौन–सा नाम असली था, इस बात पर विचार करना आवश्यक है। यों तो "रैदास" को भी "रविदास" का अपभ्रंश माना जा सकता है। किन्तु, अनुमान के सहारे अंतिम निर्णय दे देना उचित नहीं है। बेलवेडियर प्रेस से प्रकाशित "रैदास की बानी" में संकलित सभी पदों में "रैदास" नाम आता है। किन्तु, इस काफी पुराने या प्रारंम्भिक प्रकाशन में भी "रैदास" जी के जीवनचरित्र में निम्नलिखित वाक्य हैं :

".....रामानन्द जी ने लड़के का नाम रविदास रखा, पीछे से लोग उन्हें "रैदास–रैदास" कहने लगे।"

धना भगत, संत रविदास के समकालीन थे। अतः इस विषय में उनका कथन अपेक्षाकृत अधिक मान्य और प्रामाणिक माना जाना चाहिए। गुरुग्रंथ साहिब की प्रामाणिकता में भी संदेह नहीं किया जा सकता। "रैदास रामायण" तथा "रैदास जी की बानी" (बेलवेडियर प्रेस) में भी "रविदास" नाम का समर्थन मिलता है। अतः यह बात निःसंकोच स्वीकार की जा सकती है कि संत रविदास का पुकारने का नाम "रैदास" भले ही प्रचलित हो गया हो किन्तु उनका असली नाम "रविदास" ही था। नाम के अपभ्रंश रूप के प्रचलित हो जाने का एक कारण यह भी हो सकता है कि उनके पंथ के अनुयायी अधिकांशतः अशिक्षित वर्ग के लोग रहे हैं।

जहाँ तक जाति का सम्बन्ध है, यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि संत रविदास का जन्म दलित कुल में हुआ था। उसके लिए प्रमाणों के ढूँढने की आवश्यकता नहीं है। रविदास जी के अनेक पद इस तथ्य के साक्षी हैं। उन्होंने अपने अनेक पदों में अपनी जाति का उल्लेख किया है–

ऐसी मेरी जाति विख्यात चमारं
हृदय राम गोविन्द गुन सारं।।

❖ ❖ ❖ ❖ ❖

नीचे से प्रभु ऊँच कियो है कह रविदास चमार।

हम से दीन, दयाल न तुम से,
चरन सरन रैदास चमइया।

संत रविदास के समसामयिक संत धना ने भी उन्हें ढोरों का व्यवसाय करनेवाला बताया है। भारत में चर्मकारों द्वारा ढोरों का व्यवसाय करना प्राचीन काल से चला आया है। संत रविदास ने भी अपने एक पद में इसे स्वीकार करते हुए लिखा है–

जाके कुटुम्ब के ढेढ़ सब ढोर ढोवत

इस प्रकार हम देखते हैं कि संत रविदास ने स्पष्ट शब्दों में अपने को चर्मकार जाति का घोषित किया। एक नहीं अनेक स्थलों पर उन्होंने गर्व के साथ यह स्वीकार किया है। उन्होंने भगवद्भक्ति के द्वारा परमपद को प्राप्त किया और सभी के लिए वे वन्दनीय हो गये। अपनी अनन्य भक्ति, त्याग और तपस्या के बल पर उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि "ओछी जाति, ओछे करम और ओछे कसब" के होते हुए भी मनुष्य कर्मयोग द्वारा प्रभु को प्राप्त कर सकता है और प्रभु की कृपा से नीच कुल में उत्पन्न होने के बावजूद उच्च स्थान पर आसीन हो सकता है–

जाति भी ओछी, करम भी ओछा, ओछा कसब हमारा।
नीच से प्रभु ऊँच कियो है, कह रविदास चमारा।।

– रैदास जी की बानी

जन्म–स्थान

जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं, वैयक्तिक प्रचार में लेशमात्र रुचि न रखने के कारण हमारे देश के लगभग सभी महापुरुषों ने अपने लौकिक जीवन और कार्यों से सम्बन्ध रखनेवाले किसी भी तथ्य को न तो महत्त्व दिया और न उसे प्रकाश में आने दिया। भगवद्भक्ति में लीन संत रविदास के बारे में भी ऐसा कोई साक्ष्य प्राप्त नहीं है जिससे हम प्रामाणिक रूप से उनके जन्म–स्थान के सम्बन्ध में कोई निश्चित निर्णय ले सकें। समसामयिक एवं परवर्ती व्यक्ति एवं प्राप्त इतिहास इस सम्बन्ध में या तो मौन है या संदिग्ध है।

परम्परागत साहित्य एवं जनश्रुतियाँ इस बात की गवाही देती हैं कि संत रविदास के जीवनकाल में बनारस (वाराणसी) विशेष महत्त्व रखता है। उन्हीं सूत्रों से यह भी पता चलता है कि वे केवल बनारस तक ही सीमित नहीं रहे, उन्होंने लगभग पूरे भारतवर्ष का भ्रमण किया। किन्तु, इन समस्त जानकारियों से संत रविदास के जन्म–स्थान–सम्बन्धी हमारे मूल प्रश्न का समाधान नहीं होता।

संत रविदास द्वारा चलाये गये पंथ के अधिकांश अनुयायी महाराष्ट्र, गुजरात और राजपूताने आदि में हैं। उन प्रांतों में हमें रविदास पंथ का अधिक विकसित रूप दिखायी पड़ता

है। इस आधार पर बहुत से रविदासी लोगों का अनुमान है कि संत रविदास इनमें से किसी एक प्रांत या राज्य के निवासी थे और वहाँ उनका जन्म हुआ। संत रविदास को किसी पश्चिमी प्रांत का माननेवाले अपने कथन की पुष्टि के लिए चित्तौड़ स्थित श्री कुंभ श्याम के मन्दिर के निकट "श्री रैदास की छतरी" नामक स्थान और धार रियासत के मांड़ौगढ़ में बने "श्री रैदास कुंड और कुटी" का ज़िक्र करते हैं। किन्तु, अब तक कोई भी व्यक्ति ऐसा ठोस, स्पष्ट और तर्कसंगत प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर सका है जो उसके कथन को सत्य या संभावना की संज्ञा दे सके।

उत्तर प्रदेश की अनेक रविदासी गद्दियों के अधिष्ठाताओं से बात करने पर ज्ञात हुआ कि इस पंथ के लोग अधिकांशतः बनारस को ही संत रविदास का जन्म–स्थान मानते हैं तथा अपने विश्वास की पुष्टि के लिए वे संत रविदास की निम्न पंक्तियों को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करते हैं :

"मेरी जाति कुटुंवाढला, ढोर ढोवंत नितहि बनारसी आस पासा।"

यही एकमात्र पंक्ति है जिसे अधिकांश विद्वानों द्वारा संत रविदास के जन्म–स्थान के संदर्भ में उद्धृत किया जाता है। किन्तु, यह पंक्ति भी उनके जन्म–स्थान के सम्बन्ध में शत–प्रतिशत प्रमाण प्रस्तुत करने में असमर्थ है। जहाँ तक जाति–कुटुम्ब की स्वीकारोक्ति का प्रश्न है, यह कहना कठिन है कि इससे उनका संकेत खास अपने घरवालों से ही था। उनका जैसा उदारचेता महात्मा अपने समस्त सजातीय बन्धुओं के लिए भी इस शब्द का प्रयोग कर सकता है। उदार प्रकृति के लोग केवल अपने जन्म–स्थान में ही नहीं, परदेस में भी अपने सजातिये को "घर का" या "कुटुम्ब" का व्यक्ति कहते हैं। अतः यह भी संभव है कि संत रविदास ने बनारस और उसके आस–पास के सजातीय लोगों को भी कुटुम्ब और परिवार का सदस्य घोषित किया हो।

कोई ४२ वर्ष पूर्व उत्तर प्रदेश के एक मंत्री स्वर्गीय चौधरी गिरधारी लाल से हुई एक भेंटवार्ता में उन्होंने बताया था कि उनके ज्येष्ठ भ्राता स्वर्गीय चौधरी बिहारी लाल जी, जो उनसे पहले उत्तर प्रदेश सरकार में पार्लियामेण्टरी सेक्रेटरी थे, ने लगभग ३४ वर्ष पहले अखिल भारतीय रविदास महासभा का जो अधिवेशन आयोजित किया था, उसके उद्घाटन भाषण में पंजाब केसरी लाला लाजपत राय ने संत रविदास के जीवन पर प्रकाश डालते हुए उनके जन्म–स्थान के सम्बन्ध में अपना यह मत प्रकट किया था कि संत रविदास के जीवन का एक दीर्घ और महत्त्वपूर्ण हिस्सा बनारस में बीता था। वृद्धावस्था में उन्होंने देश का पर्यटन किया था। किन्तु वह और उनके वंश के लोग मूलतः बनारस के निवासी न होकर उत्तर प्रदेश के किसी पश्चिमी हिस्से के निवासी थे। बनारस की प्रसिद्धि संत रविदास के व्यवसायी पिता को वहाँ खींच ले गयी थी।

स्वर्गीय लाला लाजपत राय का मत अपना एक विशेष महत्त्व रखता है क्योंकि वह एक असाधारण व्यक्तित्व और बुद्धि के व्यक्ति थे। उनके जैसे ज़िम्मेदार व्यक्ति के कथन पर किसी प्रकार भी कोरी कल्पना होने का संदेह नहीं किया जा सकता। काश, वह अपने जीवन–काल में उन आधारभूत प्रमाणों को लिपिबद्ध कर जाते जिससे संत रविदास की परम्परा अथवा उनके जीवन–काल पर विशेष रूप से प्रकाश डाला जा सकता। फिर भी उनका उपर्युक्त कथन बहुत कुछ तर्क–संगत प्रतीत होता है। यदि संत के पिता–पितामह आदि बनारस के पुश्तैनी निवासी होते तो निश्चित रूप से उनका कोई अवशेष–चिह्न बनारस में मौजूद होता, क्योंकि संत रविदास द्वारा प्रवर्तित पंथ उनके बाद किसी भी युग में शिथिल और समाप्त नहीं हुआ, उनके अनुयायियों और समर्थकों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयी।

संत रविदास के जन्म–स्थान के सम्बन्ध में एक विश्वास और भी है जो अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण है। बनारस कैण्ट के डेढ़–दो मील पश्चिम में ग्रैट ट्रंक रोड पर मंडूर नामक ग्राम है जिसका प्राचीन नाम "मडुआ डीह" है। यह स्थान अनेक शताब्दियों से चर्मकारों के निवास का केन्द्र रहा है। इस स्थान से थोड़ी दूर पर "लहरतारा" नामक वह स्थान है जो संत कबीर के जीवन से सम्बन्धित बताया जाता है। लहरतारा में आज भी रविदासी भाइयों की एक बड़ी बस्ती है। खोज के दौरान यह भी पता लगा है कि पूर्व शताब्यिों में "मडुआ डीह" में रविदासियों की जो बस्ती थी, वह लहरतारा की मौजूदा बस्ती से बड़ी थी और लहरतारा के मौजूदा निवासी रविदास भाइयों में से बहुतों के पूर्वज पहले "मडुआ डीह" में रहा करते थे। बनारस शहर उसके देहाती क्षेत्रों, "मडुआ डीह" और "लहरतारा" के विभिन्न आयु, स्तर और वर्ण के अनेक लोगों का यह विश्वास है कि संत रविदास के पिता "मडुआ डीह" के निवासी थे और संत रविदास का जन्म उसी गाँव में हुआ था। गाँव में प्राचीन तालाब भी है जिसके सम्बन्ध में आम धारणा यह है कि संत रविदास ने बनवाया था। यह भी कहा जाता है कि तालाब के पास संत रविदास ने एक मन्दिर भी बनवाया था जो कालान्तर में ध्वस्त हो गया है।

"मडुआ डीह" का उल्लेख "काशी माहात्म्य" में भी आया है जिसके अनुसार उस स्थान पर शंकराचार्य से एक दलित ने शास्त्रार्थ किया था। वह दलित कौन था? इसके उत्तर में 'काशी माहात्म्य' मौन है।

"भविष्य पुराण" के चतुर्थ खंड में दी गयी एक कथा के अनुसार सूर्य के द्वितीय पुत्र पिंगलापति ने मानदास नामक चर्मकार के घर में जन्म लिया। वहाँ उसका नाम "रैदास" रखा गया। रैदास ने काशी में रामभक्त कबीर से वाद–विवाद किया। उन्हें पराजित कर वे शंकराचार्य के पास पहुँचे। दोनों में एक रात और एक दिन लगातार शास्त्रार्थ हुआ। अंत में रैदास पराजित हुए और उन्होंने शंकराचार्य को प्रणाम कर रामानन्द के पास जाकर दीक्षा ली।

"काशी माहात्म्य" और "भविष्य पुराण" की उपयुक्त दोनों कथाओं में बहुत कुछ साम्य है। अन्यत्र ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता जिसमें शंकराचार्य से शास्त्रार्थ करनेवाले दलित का

कोई दूसरा नाम बताया गया हो। अतः काशी माहात्म्य में उल्लिखित दलित का संकेत संत रविदास के लिए समझा जा सकता है। शास्त्रार्थ का स्थान काशी के नगर द्वार के बाहर बताया जाता है। इस कथन से "मडुआ डीह" अथवा "मंडूर" का खंडन भी नहीं होता क्योंकि यह ग्राम बनारस की बाहरी सीमा पर स्थित है।

"रैदास रामायण" में संत रविदास के जन्म–स्थान के सम्बन्ध में लिखा है–

काशी ढिंग मांडूर स्थाना, शूद्र वरण करत गुजराना।
मांडुर नगर लीन अवतारा, रविदास शुभ नाम हमारा।।

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि मांडुर नामक स्थान पर संत रविदास का जन्म हुआ। यह मांडुर कहाँ है? इस प्रश्न का विचार करते हुए कुछ लोगों को राजस्थान के "मांडवगढ़" या "मंडावर" प्रांत से भी भ्रम हो सकता है किन्तु ऐसे लोगों को उन पंक्तियों के प्रारंभिक शब्दों अर्थात् "काशी ढिंग" पर भी ध्यान देना चाहिए। "मंडुआ डीह", जिसका ज़िक्र पहले किया जा चुका है और जो आज 'मंडूर' ग्राम के नाम से पुकारा जाता है, "काशी ढिंग" भी है तथा "शूद्र वरण करत गुजराना" की पंक्तियों को सार्थक भी करता है।

माता–पिता

संत रविदास के माता–पिता कौन थे? इस सम्बन्ध में भी कोई प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। वेलवेडियर प्रेस से प्रकाशित "रैदास बानी" में संत रविदास के पिता का नाम "रग्घू" और माता का नाम "घुरबनिया" दिया गया है। "रैदास रामायण" में तो तीन पुश्तों तक की कल्पना की गयी है। भक्त बक्शीदास के अनुसार संत रविदास के पूर्वजों की तालिका इस प्रकार है :

हरिनन्द – चतरकोर
पुत्र
राऊ या राहू – करमा (विवाहिता पत्नी)
पुत्र
रैदास

"रैदास पुराण" में संत रविदास की माता का नाम "भगवती" दिया गया है तथा उसके अनुसार रैदास का जन्म भगवती के हाथ के फफोले से बताया गया है। "भविष्य पुराण" की कथा संत रविदास के पिता का नाम "मानदास" बताती है। गुजराती साहित्य में ऐसे स्थल भी मिलते हैं जिनमें रैदास के गुरु का नाम "माणदास" बताया गया है। अखिल भारतीय रविदास महासभा और लगभग सभी रैदासी गद्दियों के महन्त संत रविदास के पिता का नाम "रग्घू" मानते हैं। माता के सम्बन्ध में लगभग आधे लोग "करमा" और शेष आधे व्यक्ति "घुरबनिया" मानते हैं। "घुरबनिया" शब्द अटपटा और अस्वाभाविक–सा लगता है इसलिए संत रविदास के पिता का नाम "रग्घू" और माता का नाम "करमा" मानना चाहिए।

पत्नी और संतानें

मेजर ब्रिग्स ने संत रविदास की पत्नी का नाम "लोणा" या "लोना" बताया है। "लोणा" या "लोना" चर्मकारों की "चमकटैया" नामक उपजाति में पैदा हुई थीं। "रैदास रामायण" में इसी नाम का समर्थन किया गया है। चर्मकार समाज में इस नाम का आज भी बड़ा आदर है। उनका विश्वास है कि "लोना चमारिन" नामक एक देवी या आत्मा आज भी उनकी रक्षा करती है। उस समाज में इस नाम की देवी की पूजा भी होती है तथा विपत्ति या बीमारी के समय स्त्रियाँ सबसे पहले "लोना चमारिन" से सुरक्षा की याचना करती हैं। समाज में प्रचलित जादू–टोने की क्रियाओं में विभिन्न प्रकार के मंत्रों के साथ लोना का नाम लिया जाता है।

संत रविदास की संतानों के बारे में प्रायः कहीं भी कोई उल्लेख नहीं मिलता है। केवल एक रविदासी गद्दी के महंत का यह कहना है कि "रैदास पुराण" नामक हस्तलिखित ग्रंथ में यह उल्लेख है कि संत रविदास का एक पुत्र भी था जिसका नाम विजयदास था। विजयदास का अन्यत्र किसी स्थान पर कोई उल्लेख नहीं मिलता है। अतः उसे निराधार कल्पना ही मानना चाहिए। संत रविदास के सम्बन्ध में जो भी सामग्री उपलब्ध है, उसके अनुसार संत रविदास बाल्यकाल से ही जीवन और जगत् के प्रति उदास थे। इनकी इस उदासी के कारण ही इनके पिता ने इनके बाल्यकाल में ही इनका विवाह किया था। विवाह के उपरांत भी जब उनका विरक्ति–भाव कम नहीं हुआ तो वह घर से निष्कासित कर दिये गये। गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए भी उन्होंने साधु जीवन ही बिताया। ब्रह्मचर्य साधु जीवन की आधारशिला है। अतः वह विवाहित होते हुए भी आजीवन ब्रह्मचारी रहे। उनकी लम्बी आयु इस तथ्य की पुष्टि करती है।

शिक्षा–दीक्षा

भगवद्भक्ति और आत्मज्ञान के लिए आज भी किसी गुरुकुल या महाविद्यालय के प्रमाणपत्र की आवश्यकता नहीं पड़ती। संत रविदास उच्च कोटि के भक्त और संत थे। परमात्मा के प्रति सच्चा प्रेम और जीवन एवं जगत् की निःसारता का सम्पूर्ण ज्ञान ही प्रधान रूप से भक्त अथवा संत की अनिवार्य एवं पर्याप्त योजनाएँ हैं। ये दोनों संत रविदास में बाल्यकाल से ही मौजूद थीं। जहाँ तक भाषा, साहित्य और दर्शन के शास्त्रीय ज्ञान का प्रश्न है, उन सबके द्वार उनके लिए तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था ने बन्द कर रखे थे। इसलिए लिखने–पढ़ने के मामले में "मसि कागद छुओ नहीं, कलम गह्यौ नहीं हाथ" वाली कबीर की उक्ति संत रविदास पर भी लागू होती है। जो ज्ञानोपार्जन उन्होंने या अन्य अनेक संतों ने किया, उसके आधारभूत स्रोत हैं–

१. परम्परागत संस्कार, २. सत्संग और ३. अनुभव

इसे ईश्वरप्रदत्त प्रतिभा और संस्कारों का फल ही कहना चाहिए कि बाल्यावस्था से ही संत रविदास, जीवन और जगत् के मिथ्या व्यापारों से दूर सत्य–ज्ञान की खोज में प्रयत्नशील थे। सत्संग सदा उनके जीवन का मुख्य अंग बना रहा। उनकी वाणियाँ और

उद्देश्य उनके वैयक्तिक अनुभवों एवं चिंतन के प्रमाण के रूप में आज भी जन–जन का मार्ग प्रदर्शन कर रहे हैं। दीक्षा के विषय में लगभग समस्त उपलब्ध सामग्री इस बात से सहमत है कि संत रविदास ने कबीर की भाँति ही स्वामी रामानन्द से दीक्षा ली थी। वे दोनों गुरु–भाई थे। यह तथ्य भी सर्वविदित है कि स्वामी रामानन्द के प्रिय शिष्यों में संत रविदास का नाम तथा स्थान प्रधान था।

व्यवसाय तथा स्वभाव

संत रविदास के व्यवसाय के सम्बन्ध में उनके पद और अन्य सम्बन्धित सामग्री एकमत है। विवाह के बाद अपनी उदार और निस्पृह प्रवृत्ति के कारण वह घर से निष्कासित कर दिये गये थे। प्रियादास ने लिखा है कि वह अपने घर के पिछवाड़े फूस की कुटी बनाकर अपनी पत्नी के साथ रहते थे। उपानह (जूता) बनाना और उनकी मरम्मत करना उनका व्यवसाय था। उसी से वे अपनी जीविका अर्जित करते थे। सादा–संतोषी जीवन उनका आदर्श था। सेवा और भक्ति का व्रत वह ले ही चुके थे। उपानह बनाने का काम भी वह व्यवसाय की दृष्टि से नहीं करते थे। ऐसा उल्लेख कई स्थानों पर मिलता है कि वे उपानह बनाकर बहुधा दान कर दिया करते थे।

श्री राम चरण कुरील ने अपनी पुस्तक में संत रविदास के व्यवसाय और स्वभाव का इस प्रकार का वर्णन किया है– "इनके पिता धनी पुरुष थे और चमड़े के व्यवसाय एवं कारीगरी में दक्ष होने के कारण उन्होंने बहुत–सा धन कमाया था। उन्होंने संत रविदास को सपत्नीक अपने घर से जुदा कर दिया और पिछवाड़े की ज़मीन उनके रहने को दे दी जहाँ छाया के लिए कोई छप्पर तक नहीं था। वह एक कौड़ी भी खर्च को नहीं देते थे।"

"रविदास वहाँ अकेले अपनी धर्मपत्नी भगवती लोणा के साथ बड़े आनन्द से रहने लगे। वह अब केवल जूते (उपानह) बनाकर ही गुज़र करते थे और एक ज़ोड़ा जूता तो अब भी किसी दीन सुपात्र साधु को दान किया करते थे। अपनी गाढ़ी कमाई के पैसों पर संतुष्ट रहते हुए उन्होंने उसी हाते में अलग एक कुटी एवं फुलवाड़ी भगवद् भजन, सत्संग और उपदेश के लिए बनवायी, जहाँ हज़ारों धनी–मानी स्त्री–पुरुष सत्संग करने और उनका उपदेश सुनने आया करते थे" (संत रविदास की सत्यकथा पृ. ६–१०)

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि संत रविदास प्रधानतः ईश्वर–भक्ति और भजन सत्संग में लीन रहते थे और श्रम को महिमा प्रदान करने के लिए जूते बनाया या मरम्मत किया करते थे। उनके पदों या साखियों में उनके जो विचार व्यक्त हुए हैं, उनके आधार पर भी उनके स्वभाव का व्यापक अध्ययन किया जा सकता है।

यात्राएँ

संत रविदास का अनुयायी समाज आज सम्पूर्ण भारतवर्ष में पाया जाता है। मेजर ब्रिग्स ने अपनी पुस्तक 'द चमार्स' में लिखा है कि इस पंथ के अनुयायी गुड़गाँव, रोहतक, गुजरात और राजस्थान में विशेष रूप से पाये जाते हैं। उत्तर प्रदेश से तो इस पंथ का श्रीगणेश ही हुआ था। बिहार और दक्षिण भारत में इसके चिह्न मौजूद हैं। श्री वियोगी हरि के अनुसार मद्रास के तिरुपति तीर्थस्थान में पर्वत के नीचे बैकुंठ नामक स्थान पर रविदास जी की गद्दी और समाधि बनी हुई है।

धार रियासत के मांडोगढ़ एवं चित्तौड़ के कुंभ श्याम मन्दिर के पास "रविदास जी की छतरी" नामक स्थान की चर्चा हम पहले कर चुके हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि देश भर में संत रविदास के अनुयायी और उनके चिह्न मौजूद हैं। ऐसा तभी संभव हो सकता है जब उस पंथ के प्रवर्तक संत रविदास तथा उनके बाद उनके शिष्यों ने समय–समय पर देश का पर्यटन किया हो। प्राप्त संदर्भ तथा साहित्य अपने मतभेदों के बावजूद इस बात को स्वीकार करता है कि संत रविदास केवल काशी (बनारस) तक ही नहीं रहे वरन् उन्होंने अपने सुदीर्घ जीवन में देश के अनेक स्थानों की यात्राएँ कीं।

अनन्तदास तथा प्रियादास के वर्णनों के अनुसार संत रविदास को चित्तौड़ की रानी "झाली" ने निमंत्रण देकर चित्तौड़ बुलवाया था और वह वहाँ काफी अरसे तक रहे थे। "रैदास रामायण" के उल्लेख के अनुसार वह सिकन्दर लोधी के निमंत्रण पर इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) पधारे थे और वहाँ से दक्षिण में गोदावरी तक गये थे। दक्षिण से लौटने पर वह हरिद्वार इत्यादि अनेक तीर्थों की यात्रा करते हुए मुलतान तक गये। "रैदास रामायण" में दी गयी उनके मुलतान भ्रमण की बात तर्कसंगत नहीं जान पड़ती क्योंकि उस रामायण में वहाँ संत रविदास की "मीरा तथा कमाली" से भेंट का उल्लेख किया गया है जो एकदम काल्पनिक और अस्वाभाविक है। फिर भी, यह संभव हो सकता है कि राजस्थान से संत रविदास पंजाब या सीमा प्रांत तक गये हों और रैदास रामायण के रचयिता ने उनके सम्मान–वृद्धि के लिए उस यात्रा को मुलतान तक बढ़ा दिया हो। श्री राम चरण कुरील ने अपनी पुस्तक में संत रविदास की संगम यात्रा का वर्णन किया है। कुंभ के समय संगम–स्नान के लिए आज भी दूर–दूर से साधु, महात्मा और भक्तगण प्रयाग जाते हैं। बनारस प्रयाग के निकट ही है। अतः बहुत संभव है कि संत रविदास ने प्रयागराज की यात्रा की हो। इसके अतिरिक्त यह उल्लेख भी मिलता है कि अपनी शिष्या मीरा के निमंत्रण पर संत रविदास ने प्रयाग, वृन्दावन, मथुरा, भरतपुर, जयपुर, पुष्कर, चित्तौड़गढ़ आदि अनेक तीर्थस्थानों का भ्रमण किया। राजस्थान में संत रविदास का जाना निश्चित–सा है क्योंकि वहाँ अनेक स्थानों में उनके चिह्न आज भी पाये जाते हैं।

संत रविदास से सम्बन्धित सभी उल्लेखों में उनके भ्रमणों का न्यूनाधिक रूप में समर्थन किया गया है। "बहता पानी और रमता जोगी" की कहावत यदि सही है तो संत रविदास की

यात्राओं के सम्बन्ध में हमें अकारण संदेह नहीं करना चाहिए। एक पंथ के प्रवर्तक होने के नाते भी उनकी यात्राएँ स्वाभाविक और अनिवार्य मानी जानी चाहिए।

जीवनकाल

अपने जीवनकाल के सम्बन्ध में संत रविदास की कोई भी स्वीकारोक्ति प्राप्य नहीं है, न कोई सम–सामयिक साक्ष्य ही मौजूद है। समस्त उपलब्ध साहित्य एवं इतिहास विवादास्पद कल्पनाओं तक ही सीमित है। इसके जिज्ञासुओं के सामने प्रारंभ से ही केवल एक रास्ता रहा है। अब तक सम–सामयिक, पूर्व एवं परवर्ती व्यक्तियों तथा साहित्य के आधार पर संत रविदास का समय निश्चित करने का प्रयास किया गया है। कबीर, मीरा, धना, पीपा आदि संतों के अनुमानित कालों को आधार बनाकर ही विद्वानों ने संत रविदास के जीवनकाल का निर्णय किया है। किन्तु, चूँकि स्वयं इन लोगों के आविर्भाव काल का कोई निश्चित निर्णय आज तक नहीं हो सका है और चूँकि इनके बारे में विभिन्न मत हैं, अतः उनके आधार पर स्थापित किये गये संत रविदास के जीवनकाल के बारे में भी अलग–अलग सम्मतियाँ हैं। खिसकनेवाली नींव की ईंटों पर निर्मित कल्पना–प्रासाद के लिए आगे–पीछे खिसक जाना या समय पाकर सम्बद्ध प्रयास का व्यर्थ हो जाना बहुत ही स्वाभाविक लगता है। हमारे सामने केवल अनुमान का पथ ही शेष है। अनुमान जितना ही अधिक तर्कसंगत और स्वाभाविक होता है, वह उतना ही अधिक सत्य के निकट माना जा सकता है।

संत रविदास के जन्म, जीवन और निर्वाण–काल की निश्चित तिथियाँ न मालूम होते हुए भी निम्नलिखित कुछ बातें ऐसी हैं, जिन्हें निश्चित और निर्विवाद कहा जा सकता है :

१. वे अपने समसामयिक लगभग सभी संतों की तुलना में दीर्घजीवी थे।

२. धना भगत संत रविदास जी को एक सुप्रसिद्ध भक्त और अपना आदर्श मानते थे। अपने एक पद में उन्होंने संत रविदास के प्रति भावनाएँ व्यक्त की हैं। उनके आधार पर यह बात निश्चित मानी जा सकती है कि धना भगत के काल तक संत रविदास प्रसिद्धि पा चुके थे और वे आयु में धना से बड़े थे।

३. संत रविदास ने अपने जीवनकाल में सिकन्दर लोधी का शासन देखा था।

४. संत रविदास के जीवनकाल में ही कबीर स्वर्गवासी हो चुके थे।

५. स्वामी रामानन्द के १३ शिष्यों में संत रविदास भी थे।

६. आयु में संत रविदास कबीर से बड़े थे। कबीर की "सन्तों में संत रविदास है" वाली उक्ति इस अनुमान का आधार है। इसके अतिरिक्त दोनों संतों द्वारा परस्पर एक–दूसरे के लिए जो भावनाएँ व्यक्त की गयीं हैं और उनमें जिस शब्दावली का प्रयोग हुआ है, वह इस तथ्य की ओर संकेत करती है कि कबीर आयु में संत रविदास से छोटे थे किन्तु दोनों की आयु में कोई बहुत बड़ा अन्तर नहीं था।

यों तो विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार संत रविदास का जीवनकाल निश्चित करने का प्रयास किया है किन्तु ऊपर दिये गये छह निर्विवाद तथ्यों के आधार पर स्थापित निर्णय को अधिक सार्थक और तर्कसंगत माना जा सकता है। इस विषय में विभिन्न विद्वानों के मत तथा उपलब्ध साहित्य से प्राप्त सूचनाएँ इस प्रकार हैं –

१. नामदेव, कबीर, रैदास, पीपा आदि की "पर्चियाँ" (परिचई) अनन्त दास ने लिखी हैं। अनन्त दास श्री अग्रदास जी की शिष्य परम्परा में हुए थे। इनकी लिखी पर्चियों का लेखनकाल संवत् १६४६ विक्रमी अथवा सन् १५८६ ई. माना जाता है। अतः यह निश्चित है कि संत रविदास इस समय के बहुत पहले निर्वाण पा चुके थे।

२. डॉ. रामकुमार वर्मा के अनुसार संत रविदास रामानन्द के शिष्य थे, कबीर के समकालीन और मीरा के गुरु थे।

३. "संत साहित्य" के लेखक पं० भुवनेश्वर प्रसाद मिश्र ने संत रविदास को मीरा, धना और पीपा का समकालीन बताया है।

४. राजस्थान के "ज्योति स्तंभ" के लेखक हरिभाऊ उपाध्याय ने संत रविदास को मीरा का समकालीन तथा उनका गुरु माना है।

५. आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने यद्यपि निश्चित रूप में संत रविदास के जीवनकाल पर अपना निर्णय नहीं दिया है तथापि रानी झाली के संदर्भ में उन्होने लिखा है-"इस विचार से संत रविदास का समय विक्रम की सोलहवीं शताब्दी के प्रायः अंत तक चला आता है" जो अस्वाभाविक नहीं जान पड़ता।

६. सुश्री पद्मावती शबनम ने अपने "मीरा-एक अध्ययन" नामक ग्रंथ में संत रविदास को कबीर का गुरुभाई और रानी झाली का गुरु बताया है।

७. प्रो० तारकनाथ अग्रवाल ने 'मीरा स्मृति ग्रंथ' में संत रविदास का निधन संवत् १५७६ (सन् १५१६ ई.) माना है।

८. "संत बानी संग्रह" में संत रविदास का जीवनकाल ईसा की पन्द्रहवीं शताब्दी के पिछले भाग से सोलहवीं शताब्दी के मध्य तक ठहराया गया है।

९. रामचरण कुरील की पुस्तक के प्रारंभ में दिये गये "विशेष कथन" में संत रविदास का जन्म संवत् १४७१ वि. तथा निर्वाण वि. संवत् १५६७ माना गया है। इसके अनुसार संत रविदास की आयु १२६ वर्ष १ महीना और १४ दिन मानी गयी है।

१०. अयोध्या स्थित रविदासी गद्दी के महन्त सकलूदास तथा फर्रुखाबाद स्थित रविदासी गद्दी के महन्त रामदास जी के अनुसार संत रविदास का जन्म संवत् १४७१ में हुआ था।

११. "रैदास रामायण" में संत रविदास के जन्म, जीवन और निर्वाण का कोई निश्चित समय निर्धारित नहीं किया गया है।

ऊपर लगभग सभी विद्वानों के मत दिये गये हैं। उनमें परस्पर भिन्नताएँ हैं और उनका कारण भी ऊपर दिया जा चुका है। अतः संत रविदास का ठीक जन्म संवत् बताना कठिन है। केवल दो बातें निश्चित हैं। एक, संत रविदास धना और कबीर से बड़े थे । धना का जन्म "मेकालिफ" के अनुसार विक्रम संवत् १४७२ में हुआ था। (द सिख रेलिजन, जिल्द छह, पृष्ठ १०६) किन्तु, स्वयं मेकालिफ कहाँ तक सही हैं, यह कहना कठिन है। ठीक यही बात कबीर के जन्म संवत् के बारे में भी लागू होती है। कबीर पंथी और डॉ. रामकुमार वर्मा के अनुसार कबीर का जन्म संवत् १४५५–५६ माना जाता है। संत रविदास आयु में कबीर से बहुत ज्यादा बड़े नहीं थे। कबीर से उनकी ज्येष्ठता अधिक से अधिक दस–पन्द्रह वर्षों के भीतर ही थी और यह भी संभव है कि इससे भी कम हो।

संत रविदास का नाम, जैसा कि उपलब्ध साहित्य हमें बताता है, परम्परा के अनुसार रविवार के दिन उत्पन्न होने के कारण रखा गया। आज भी अपने देश में यह परम्परा प्रचलित है। जहाँ तक तिथि का सम्बन्ध है, सभी रविदासी गद्दियाँ सदियों से माघ पूर्णिमा को ही संत रविदास की जन्मतिथि मनाती चली आयी हैं। अतः इसकी मान्यता पर प्रश्नचिह्न लगाने का प्रश्न ही नहीं उठता। यदि जन्मतिथि और जन्मदिन दोनों सही हैं तो इनके आधार पर संत रविदास का जन्म संवत् भी ढूँढ़ा जा सकता है। संवत् १४४१ वि. से लेकर संवत् १४५४–५५ वि. तक जिस वर्ष माघ की पूर्णिमा रविवार को पड़ी हो, उसी वर्ष को संत रविदास का जन्म संवत् माना जाना चाहिए।

आयु और निर्वाण की तिथि

संत रविदास दीर्घजीवी थे, अन्य संतों की तुलना में उन्होंने अधिक आयु प्राप्त की थी– यह तथ्य निर्विवाद है। किन्तु, कितनी आयु प्राप्त करके, उनका निर्वाण हुआ, इस सम्बन्ध में अनेक मत हैं। अनेक जनश्रुतियाँ उनके १३० वर्ष तक जीवित रहने की गवाही देती हैं। "रैदास की बानी" नामक पुस्तक में उनकी आयु १२० वर्ष मानी गयी है। एक अन्य पुस्तक (भगवान् रैदास की सत्यकथा) के विशेष कथन में उनकी आयु १२६ वर्ष, एक महीना और १४ दिन मानी गयी है। दीर्घजीवी होने का यश संत रविदास को ही प्राप्त है जबकि कबीर की आयु भी १२० मानी जाती है। अतः यह निश्चित है कि संत रविदास ने १२० से अधिक वर्ष की आयु में निर्वाण प्राप्त किया था। यह आयु अस्वाभाविक भी नहीं कही जा सकती, साथ ही उनके दीर्घजीवी होने की कीर्ति को भी सार्थक बनाती है।

"भगवान् रविदास की सत्यकथा" में दिये गये समय के अनुसार संत रविदास का निर्वाण वि. संवत १५६७ में हुआ। किन्तु प्रो. तारकनाथ अग्रवाल ने अपने "मीरा स्मृति ग्रंथ" में उनका निधन वि. संवत् १५७६ माना है। कबीर का निधन विक्रम संवत् १५८५ माना जाता है। अतः संत रविदास की आयु यदि हम १३० वर्ष मानें तो कबीर से बड़े होने के कारण उनका निर्वाण संवत् १५७७ से संवत् १५६५ विक्रमी के बीच ठहरता है।

जहाँ तक निर्वाण तिथि का सम्बन्ध है, हमें रविदास पंथियों की मान्यता को ही स्वीकार करना चाहिए। उनके अनुसार संत रविदास चैत्र बदी चतुर्दशी को अखण्ड ज्योति में लीन हुए थे।

किन्तु, वे किस स्थान पर अखंड ज्योति में लीन हुए, इस विषय पर सम्बन्धित इतिहास एवं साहित्य मौन है। "रैदास रामायण" में श्री बक्शी राम ने लिखा है कि वह गंगातट पर तपस्या करते हुए जीवन–मुक्त हुए। रैदास पंथ की एक शाखा के लोग उनका निर्वाण–स्थल चित्तौड़ मानते हैं। यह वह स्थान है जो श्री कुंभ श्याम जी के मंदिर के ऊँचे चबूतरे की दाहिनी ओर "श्री रविदास जी की छतरी" के नाम से प्रसिद्ध है तथा जहाँ केवल दो पद–चिह्न अंकित हैं। पंथ की एक दूसरी शाखा उनके "सदेह गुप्त" होने में विश्वास रखती है।

संत रविदास अपने जीवनकाल में पर्याप्त प्रसिद्धि पा चुके थे। यह दलील तो मानी जा सकती है कि अनुयायियों में अधिकांशतः अपढ़ होने के कारण उनका साहित्य सुरक्षित न रह सका, किन्तु उनकी इतनी व्यापक प्रसिद्धि के बावजूद उनके निर्वाण–स्थान के बारे में परस्पर विरोधी सम्मतियों का होना इस बात की ओर निश्चित संकेत करता है कि उनका निर्वाण आकस्मिक और किसी अनजाने प्रदेश में हुआ। यदि चित्तौड़ में हुआ होता तो वहाँ उनका कोई निश्चित और प्रामाणिक स्मारक अवश्य होता, भले ही वह आज अपने खंडित और ध्वस्त रूप में होता क्योंकि चित्तौड़ यात्रा के समय संत रविदास अपनी प्रसिद्धि के उच्चतम शिखर पर थे और जनश्रुतियों के अनुसार वहाँ झोंपड़ी से लेकर राजमहल तक उनके प्रति श्रद्धा और भक्ति उमड़ चुकी थी। "सदेह गुप्त" होने की भावना के पीछे अनभिज्ञता का तथ्य जान पड़ता है। यह मानते हुए कि संत रविदास ने अपनी वृद्धावस्था में ही चित्तौड़ की यात्रा की थी, प्रमाणों के सर्वथा अभाव में, श्री रविदास जी की छतरी नामक स्थान को उनके निर्वाण का स्थान नहीं माना जा सकता। संभव यही है कि उनका निर्वाण पंजाब या दक्षिण यात्रा के समय किसी ऐसे स्थान पर आकस्मिक रूप से हुआ हो, जिसके बारे में उस समय उनके अनुयायी पूरी तरह परिचित नहीं हो सके।

रचनाएँ तथा ग्रंथ

अन्य संत कवियों की भाँति संत रविदास की काव्य–रचनाओं का उद्देश्य साहित्य–सृजन न होकर व्यक्ति और समाज का आध्यात्मिक दृष्टि से परिष्कार करना था। उनकी रचनाओं में रस, अलंकार और काव्य के गुणों का ढूँढ़ना उचित नहीं है। कबीर आदि संत कवियों की भाँति उनकी रचनाएँ उपदेश और संदेश–प्रधान हैं। नश्वर जगत् में लीन, मोहान्ध तथा माया से भ्रमित मानव समाज के कल्याण का मार्ग प्रशस्त करना ही उनके काव्य का प्रधान लक्ष्य था। उनमें साहित्य का सौन्दर्य ही नहीं, सच्चे ज्ञान और भक्ति का रचनात्मक विवेचन है। "अष्टांग साधना" का महान् संदेश संत रविदास की मौलिक देन है। उनके काव्य में ज्ञान और भक्ति की समन्वयात्मक भावधारा का समावेश है। संत रविदास भक्त थे, कवि बाद में थे।

समाज सुधार एवं परिष्कार के लिए उन्होंने अपने उपदेशों के लिए सामयिक रचना–प्रणाली को अपनाया और पद एवं साखियों के रूप में अपने विचार व्यक्त किये।

संत रविदास ने कितनी रचनाएँ की हैं, उनके कितने ग्रंथ हैं, यह ठीक से ज्ञात नहीं है। कबीर की भाँति वे भी पढ़े–लिखे नहीं थे। उन्होंने अपनी रचनाएँ स्वयं लिपिबद्ध नहीं की थीं। अधिकांशतः वे मौखिक रूप से ही प्रचलित रहीं। बाद में उनके पंथ के लोगों ने उनकी रचनाओं को लिपिबद्ध किया है। ऐसा कोई प्रामाणिक उल्लेख नहीं मिलता जिसमें उनके द्वारा रचित पदों एवं सखियों की संख्या का उल्लेख हो। उनकी रचनाओं की जो प्रतिलिपियाँ प्राप्त हैं, उनकी प्रामाणिकता भी संदिग्ध है, उनमें अनेक अशुद्धियाँ और पाठांतर हैं। नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट के अनुसार संत रविदास के स्फुट पद व रचनाएँ, जो विभिन्न हस्तलिखित ग्रन्थों में विभिन्न स्थानों पर पाये जाते हैं, निम्नलिखित हैं–

१.	**रैदास बानी**	–	रचनाकाल सं. १५०७ विक्रमी,		
			विषय	–	ईश्वर महिमा,
			लिपिकाल	–	सं. १८५५ विक्रमी।
२.	**रैदास जी की साखी तथा पद**	–	विषय	–	ज्ञानोपदेश, सन् १९०२ संख्या–५५
३.	**रैदास के पद**	–	विषय	–	ज्ञान और भक्ति,
			लिपिकाल	–	१६४६ विक्रमी
			प्राप्ति–स्थान	–	बाबा हरिदास जी, अलीगढ़
			दूसरी प्रति	–	लिपिकाल सं. १७०६ विक्रमी
			प्राप्ति–स्थान	–	राजपुस्तकालय, जोधपुर
४.	**प्रह्लाद लीला**	–	प्राप्ति–स्थान, रामचन्द्र सैनी, बेलनगंज, आगरा, सन् १९२६		

"नागरी प्रचारिणी सभा", काशी में संग्रहीत विभिन्न गुटकों में अन्य संतों की रचनाओं के साथ संत रविदास के अनेक पद सुरक्षित हैं। "दादू पंथ" के धर्म ग्रंथ "सर्वांगी" और "पंचबानी" में भी संत रविदास की बहुत–सी "बानियाँ" हैं। गुरुग्रंथ साहिब में संत रविदास के ४० पद संग्रहीत हैं। "रैदास जी बानी", "बेलवेडियर प्रेस" में उनकी छह साखियाँ और ८६ पद संग्रहीत हैं। "कल्याण" के संत अंक में संत रविदास की आठ–दस रचनाएँ मिलती हैं और वियोगी हरि की "संतवाणी" और रामचरण कुरील की "भगवान रविदास की सत्यकथा" आदि पुस्तकों में भी उनकी कुछ रचनाएँ संग्रहीत हैं।

संत रविदास की रचनाओं की प्रायः सभी प्राप्त हस्तलिखित प्रतिलिपियों में अनेक अशुद्धियाँ और पाठांतर हैं। केवल शब्दों की ही नहीं, पूरी–पूरी पंक्ति की पुनरावृत्तियाँ भी हुई हैं। प्रतिलिपियों में एक सबसे बड़ा दोष साक्षरी प्रणाली है। पंक्ति के सभी शब्द मिलाकर लिखे गये हैं जिससे भ, म, ध, घ आदि का भेद स्पष्ट नहीं होता। कहीं–कहीं तो यह निर्णय करना

कठिन हो जाता है कि अमुक अक्षर किस शब्द के साथ जोड़ा जाये। इसके अतिरिक्त शब्दों के रूप भी विभिन्न प्रतिलिपियों में भिन्न–भिन्न हैं। एक ही शब्द के एक ही पद में अलग–अलग रूप मिलते हैं जैसे – ज्ञान को कहीं "गिआन" कहीं "ग्यान" और कहीं "गेआन" लिखा गया है।

जहाँ तक भाषा का सम्बन्ध है, संत रविदास ने अधिकांशतः हिन्दी भाषा में ही पद्यरचना की है। फिर भी, उनके काव्य में पूर्वी अवधी का समावेश अधिक है। अवधी शब्दों के अतिरिक्त प्रारंभ से अंत तक अवधी के कारक चिह्नों का प्रयोग पाया जाता है। कहीं–कहीं ब्रजभाषा और खड़ी बोली की विभक्तियाँ और उर्दू, फारसी शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। भ्रमण के दौरान सामने आने वाले स्थानीय शब्दों का प्रयोग भी कहीं–कहीं दृष्टिगोचर होता है। पंजाबी शब्दों का प्रयोग बहुत कम है किन्तु पदों में अनेक स्थलों पर पंजाबीपन अवश्य आ जाता है। इसका एकमात्र कारण संत रविदास के बाद उनके शिष्यों एवं लिपिकारों का पंजाबी के प्रति वैयक्तिक प्रेम हो सकता है। आज संत रविदास के अनेक पदों में 'न' के स्थान पर 'ण' का प्रयोग दिखायी देता है।

●●●

जनश्रुतियाँ

महापुरुषों की जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली. अनेक चमत्कारपूर्ण एवं अचरजभरी जनश्रुतियों का प्रचलन हमारे देश की ही नहीं, समस्त संसार की एक प्रचलित परंपरा है। वैज्ञानिक युग के प्रारंभ तक भारत में इस परंपरा ने उत्तरोत्तर विकास किया है। शायद ही कोई ऐसा महापुरुष हुआ है, जिसके सम्बन्ध में कम या ज्यादा संख्या में जनश्रुतियाँ अथवा किंवदंतियाँ प्रचलित न हुई हों।

संत रविदास के जीवन से सम्बन्धित जनश्रुतियों की संख्या भी कम नहीं है। उनमें से अनेक कथाएँ काफी कुछ स्वाभाविक और सत्य जान पड़ती हैं। किन्तु, कुछ ऐसी भी हैं जो आधुनिक काल के अनुयायियों की मनगढ़ंत कही जा सकती हैं। यहाँ हम केवल उन्हीं किंवदन्तियों को संक्षिप्त रूप में दे रहे हैं, जो सारे देश में प्रचलित हैं और जिन्हें निश्चित रूप से न भक्तों की मनगढंत कहा जा सकता है और न वे नयी कल्पनाओं की उपज हैं।

स्तनपान सम्बन्धी कथा

संत रविदास का जन्म चर्मकार परिवार में हुआ था। एक जनश्रुति के अनुसार वह पूर्वजन्म में एक ब्राह्मण ब्रह्मचारी थे। शिशु रविदास ने अपनी माता का स्तनपान नहीं किया तो घर के लोग चिंतित और परेशान हुए। किंवदंती के अनुसार स्वामी रामानंद ने आकर शिशु रविदास को उपदेश दिया तब शिशु रविदास ने माँ का दूध पीना प्रारंभ किया।

सत्संग से प्रेम

जी. डब्ल्यू. ब्रिग्स के अनुसार संत रविदास को बचपन से ही सत्संग से प्रेम था। कहा जाता है कि १२ वर्ष की आयु में ही बालक रविदास ने मिट्टी की बनी राम–जानकी की मूर्ति की पूजा करना शुरू कर दिया था। धर्म के प्रति उनकी आस्था के साथ ही वह साधु–संन्यासियों की संगत में भी रुचि लेने लगे थे। सांसारिक जीवन के प्रति उनकी बढ़ती उदासीनता उनके पिता के लिए चिंता का विषय बन गयी। कहते हैं, उन्होंने इसलिए बालक रविदास को समझाना–बुझाना शुरू किया। सांसारिक जीवन के प्रति उनका रुझान बढ़ाने के उद्देश्य से उन्होंने संत रविदास की शादी भी कर दी। किन्तु, जिस पर भगवत् भक्ति का गहरा रंग चढ़

चुका हो, उस पर इन सांसारिक बन्धनों और आकर्षणों का क्या असर हो सकता था। बालक रविदास के हृदय–परिवर्तन के सभी प्रयास विफल हो गये। पिता ने उन्हें अपनी दुकान पर बिठाना शुरू किया। संत हृदय की उदारता और व्यापारिक हथकण्डे परस्पर विरोधी बातें हैं। मुनाफाखोरी की बात तो दूर रही, किशोर रविदास ने यदि किसी की आवश्यकता महसूस की तो उसे मुफ्त में ही दुकान का माल दे देना उनके लिए साधारण–सी बात थी। पिता ने उन्हें सपत्नीक घर से निकाल दिया। वे घर के पिछवाड़े की जमीन पर फूस की झोंपड़ी बनाकर पत्नी सहित रहने लगे। कर्म के प्रति उदासीन होना उन्होंने सीखा नहीं था। जूतों की मरम्मत करने और नये जूते बनाने में उनके हाथ संलग्न रहते थे और रसना भजन–कीर्तन में रत रहती थी। जो भी थोड़ा बहुत धन वह कमाते थे, उसी से उनकी गृहस्थी का खर्च चलता था। एक कहावत यह भी है कि रविदास जी घोर आर्थिक संकट में रहते हुए भी एक जोड़ा जूता बनाकर किसी न किसी सुपात्र को दान कर दिया करते थे। धीरे–धीरे रविदास जी की साधुता और भक्ति का यश फैलता गया और नित्य सायंकाल सैकड़ों व्यक्ति वहाँ एकत्र होकर भजन–कीर्तन और कथा–वार्ता के साथ ही संत रविदास के प्रवचनों से भी लाभान्वित होने लगे।

पारसमणि

संत रविदास की अनन्य भक्ति और सच्ची सेवा देखकर ईश्वर का हृदय भी स्नेह से परिप्लावित हो उठा। उनसे संत रविदास की गरीबी देखी न गयी। साधु के रूप में एक दिन वे स्वयं रविदास की कुटी पर पधारे। जैसा कि संत रविदास का नियम और स्वभाव था, उन्होंने अतिथि साधु का हृदय से स्वागत किया। विदा होते समय साधुवेशी भगवान् ने उन्हें पारसमणि प्रदान की तथा जूते बनानेवाली राँपी को, उसके स्पर्श से सोने की बनाकर दिखाया। संत रविदास ने पारसमणि लेने से इंकार कर दिया और विनम्र शब्दों में साधु से क्षमायाचना करते हुए कहा कि पारसमणि उनके लिए व्यर्थ की वस्तु है, क्योंकि वह अर्थ लोभ के सांसारिक मोहजाल से दूर रहना चाहते हैं। साधुवेशी भगवान् ने फिर भी पारसमणि को संत रविदास की झोंपड़ी के छप्पर में एक स्थान पर रख दिया और आवश्यकता के समय इस्तेमाल की सलाह देकर वे विदा हो गये। संतोषी और कर्मयोगी संत रविदास ने कभी भी पारसमणि द्वारा धनी बनने का विचार नहीं किया। एक लम्बे अरसे बाद भगवान् पुनः उसी साधु के वेश में आये और उन्होंने रविदास से पारसमणि के बारे में पूछा। संत रविदास ने उत्तर दिया कि जहाँ वह उसे रख गये हों, वहीं से उठा लें। उसका उपयोग करना तो दूर, उन्होंने उसका स्पर्श तक नहीं किया। कारण पूछने पर संत रविदास ने अपने सच्चे उद्‌गार व्यक्त करते हुए कहा कि उनके लिए वह असाधारण पारसमणि महत्त्वहीन है क्योंकि उन्हें भगवत् भक्ति की सर्वोच्च मणि प्राप्त हो चुकी है। संत रविदास के वचनों को सुनकर साधुवेशी भगवान् ने समझ लिया कि संत रविदास की भक्ति सकाम नहीं है, वह अपने उच्चतम शिखर पर आरूढ़ हो चुकी है।

सोने की मोहरें

पारसमणि द्वारा संत रविदास की परीक्षा लेने के बाद भक्तवत्सल भगवान् ने संत रविदास के दुख–दरिद्र दूर करने के लिए एक अन्य उपाय सोचा। संत रविदास नित्य भगवान् की मूर्तियों को स्नान, आदि के उपरांत, चंदन, अक्षत, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य आदि से पूजन–वन्दन किया करते थे और उसके बाद ही अन्न–जल ग्रहण करते थे। एक दिन उन्होंने भगवान् की मूर्ति को स्नानादि के लिए सिंहासन से नीचे उतारा तो वहाँ सोने की पाँच मोहरें रखी दिखायीं दीं। उन्हें देखते ही संत रविदास चौंक पड़े और इस गहन चिंता में पड़ गये कि कहीं उनके साथ कोई छल तो नहीं कर रहा है। उनकी इस चिंता का कारण यह था कि वे बहुत संतोषी और निर्लिप्त स्वभाव के थे। उन्हें चिंतित देखकर भगवान् ने उन्हें प्रेरणा दी कि वे मोहरें उन्हीं के चरणों का प्रसाद हैं और प्रसाद का तिरस्कार नहीं करना चाहिए। भगवत् प्रेरणा से विवश होकर संत रविदास को वे स्वर्ण मुद्राएँ स्वीकार करनी पड़ीं। इसके बाद नित्य ही उन्हें भगवान् के आसन के नीचे पाँच स्वर्ण मुद्राएँ मिलने लगीं। कहते हैं कि संत रविदास ने स्वर्ण मुद्राओं को स्वीकार तो किया किन्तु उनका उपयोग अपने या अपने परिवार के लिए कभी नहीं किया। संत रविदास ने उन्हें एकत्र करके एक भव्य और विशाल मन्दिर तथा धर्मशाला का निर्माण कराया था। धर्मशाले के पास उन्होंने एक बड़ा तालाब बनवाया था जिससे मनुष्य के साथ ही पंक्षियों और अन्य प्राणियों को भी जल उपलब्ध हो सके। बाद में इसी तालाब को लोगों ने "श्री रविदास कुण्ड" के नाम से सम्बोधित किया और उसके बाद संत रविदास के भक्तों ने देश भर में जहाँ–तहाँ रविदास कुण्ड निर्माण कराने की परंपरा डाली।

प्रसाद का अपमान

संत रविदास नित्य सायंकाल भजन–कीर्तन, कथा–वार्ता और उपदेश आदि किया करते थे। सत्संग में बहुत से नर–नारी शामिल हुआ करते थे। एक दिन काशी के एक बड़े सेठ सत्संग में आये। उपदेश आदि के उपरांत एक शिष्य द्वारा उपस्थित जनसमुदाय में भगवान् का प्रसाद और चरणामृत वितरित किया गया। सेठ धर्मसंकट में पड़ गये। उन्होंने चरणामृत तो ले लिया किन्तु घृणा के कारण उसे पी न सके और सिर से ऊपर उछालकर उन्होंने उसे फेंक दिया। चरणामृत उनके अंगरखे पर गिरकर सूख गया।

घर लौटने पर सेठ जी ने अपने कपड़ों को उतारकर एक भंगी को दे दिया। स्नानादि कर नये कपड़े पहन लिये। चरणामृत के अपमान का परिणाम यह हुआ कि सेठ जी को गलित कोढ़ हो गया और उस भंगी ने जिसे सेठ जी ने चरणामृत पड़े कपड़े दे दिये थे, ज्योंही उन कपड़ों का पहिना, उसका सारा शरीर कान्तिमय हो गया।

चरणामृत के प्रभाव को देखते ही सब लोग दंग हो गये। पर्याप्त उपचार करने पर भी जब सेठ ठीक नहीं हुआ तो लोगों ने राय दी कि वह संत रविदास के ही चरणों की शरण ले। उन्हीं के आशीर्वाद से ही वह ठीक हो सकता है। सेठ ने आखिरकार अपनी गलती महसूस

की और एक दिन सत्संग के समय जाकर संत रविदास के चरणों से लिपट गया। उदारमना संत रविदास ने सेठ के स्वास्थ्य लाभ के लिए प्रार्थना की। सेठ ने सच्चे हृदय से श्रद्धा सहित भगवान् का चरणामृत लिया। फलस्वरूप सेठ का कुष्ठ रोग अच्छा हो गया और पुनः उसकी श्रीवृद्धि होने लगी। उस दिन से वह संत रविदास का शिष्य भी हो गया। इस चमत्कारपूर्ण घटना से संत रविदास की प्रसिद्धि दूर–दूर तक फैल गयी। लोग हजारों की संख्या में उनके सत्संग में आने लगे।

दरबार में शास्त्रार्थ

संत रविदास की बढ़ती हुई कीर्ति कुछ पाखण्डियों को पसन्द न आयी। उनमें ईर्ष्या और द्वेष की भावना यहाँ तक बढ़ गयी कि उन्होंने काशी नरेश के दरबार में जाकर संत रविदास के विरुद्ध अनेक झूठी शिकायतें कीं। काशी नरेश न्याय के समर्थक थे। उन्होंने संत रविदास और उन पाखण्डी धर्माचार्यों को दरबार में बुलाया। दोनों को आमने–सामने बिठाकर काशी नरेश ने संत रविदास से पाखण्डियों द्वारा की गयी शिकायत बतायी। संत रविदास ने शांत भाव से उन्हें सुना और उनका उत्तर दिया। इस पर ईर्ष्यालु पाखण्डियों ने आवेश में आकर संत रविदास को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा। संत रविदास ने मुसकराते हुए उस चुनौती को भी स्वीकार कर लिया। काशी नरेश ने शास्त्रार्थ के दिन एवं समय की घोषणा कर दी।

शास्त्रार्थ की सूचना दूर–दूर तक फैल गयी। हजारों व्यक्ति उसे देखने उमड़ पड़े। काशी नरेश के समक्ष संत रविदास और पाखंडयों में बहुत देर तक शास्त्रीय वाद–विवाद होता रहा। संत रविदास की विजय देख पाखंडी लोग घबड़ाये। उन्होंने शास्त्रार्थ छोड़कर इधर–उधर की बातें करना शुरू कर दीं जिससे स्पष्ट हार–जीत न हो सके। इस पर उपस्थित लोगों की ओर से एक प्रस्ताव पेश किया गया जिसमें कहा गया कि भगवान् का आह्वान करें। जो पक्ष अपनी सिद्धि और उपासना के बल पर भगवान् की मूर्ति को अपने पास बुला ले, वही विजयी घोषित किया जाय। इस पर काशी नरेश ने एक शर्त और जोड़ दी कि जो पक्ष पराजित होगा, वह विजयी पक्ष को सिंहासन में बिठाकर अपने कंधे पर लेकर शहर की परिक्रमा करे। पाखंडियों को विश्वास था कि संत रविदास जैसे दलित व्यक्ति के पास भगवान् की मूर्ति नहीं जा सकती। वे सब सहर्ष तैयार हो गये।

दोनों पक्षों की ओर से भगवान् की मूर्ति का आह्वान किया गया। संत रविदास अकेले थे। विरोधियों की संख्या बहुत थी। किन्तु उस समय उपस्थित जनसमुदाय ने दाँतों तले उँगली दबा ली जब सिंहासन में रखी मूर्ति संत रविदास के गोद में आ गयी। पाखंडियों को अपनी हार माननी पड़ी। काशी नरेश जो धर्मपरायण और न्यायप्रिय शासक थे, संत रविदास के लिए ऊँचा सिंहासन मँगवाया। उस पर उन्हें सादर बिठाया गया। विरोधी पक्ष ने इच्छा न रहते हुए भी काशी नरेश के भय से संत रविदास के सिंहासन को अपने कन्धे पर उठाया। सिंहासन के पीछे–पीछे हजारों लोगों का जनसमुदाय संत रविदास की जय–जयकार करते हुए आगे बढ़ा। पूर्व निर्णय के अनुसार संत रविदास की सवारी पूरे नगर में घुमायी गयी।

झाली रानी

अनेक क्षेत्रों में मूर्ति के आह्वान की कथा के साथ ही झाली नामक चित्तौड़ की रानी का उल्लेख भी किया जाता है। इस कथा के अनुसार यह घटना चित्तौड़ में ही घटित हुई। भक्तमाल के टीकाकार ने लिखा है कि चित्तौड़ की रानी झाली काशी आयी थीं और उन्होंने संत रविदास से गुरुदीक्षा लेने के बाद उन्हें चित्तौड आने के लिए निमंत्रित किया था।

कुंभ के मेले में

कहते हैं कि कुंभ के अवसर पर एक बार संत रविदास भी त्रिवेणी स्नान के लिए अपने शिष्यों के साथ प्रयाग पधारे थे, उन्होंने त्रिवेणी संगम पर अपना शिविर लगाया। प्रसिद्ध हो ही चुके थे इसलिए उनके पंडाल पर भक्तजनों का ताँता लगने लगा। मेले में काशी के वे पाखंडी लोग भी आये थे जो संत रविदास से पराजित हो चुके थे। उनकी प्रयाग यात्रा का मूल उद्देश्य यही था कि मेले में संत रविदास को नीचा दिखाया जाय। उन्होंने हर किसी से उनकी निन्दा की और फिर षड्यंत्र की रचना की। संत रविदास को चुनौती दी गयी कि वे अपने साथ लायी शालिग्राम की बटिया को त्रिवेणी के जल–प्रवाह में डालें। जिसकी शालिग्राम की बटिया पानी में तैरती रहे, वही सिद्ध महात्मा माना जायेगा। भोली जनता क्या जानती थी कि संत रविदास के विरोधियों ने पहले से ही अपने–अपने शालिग्राम की बटिया काष्ठ की बनवा रखी थी। उसने भी विरोधियों के स्वर में स्वर मिलाया। विवश हो संत रविदास को चुनौती स्वीकार करनी पड़ी। अपने उपास्य देव का नाम लेकर उन्होंने अपने शालिग्राम की बटिया जो काले पत्थर की बनी हुई थी, त्रिवेणी में प्रवाहित कर दी। ईश्वर ने अपने भक्त की लाज रखी। विरोधियों द्वारा प्रवाहित काष्ठ मूर्तियाँ डूब गयीं और संत रविदास द्वारा जल में छोड़ी गयी प्रस्तर मूर्ति तैरती रही। कुंभ मेले में उपस्थित जनसमुदाय में संत रविदास की सिद्धि की धाक जम गयी और उनके विरोधियों को एक बार फिर मुँह की खानी पड़ी।

सोने के कंकण

कहा जाता है कि एक गरीब ब्राह्मण नित्यप्रति राजा की ओर से गंगा जी की पूजा करने जाता था। एक दिन उसका जूता फट गया तो गंगा जी की ओर जाते समय वह संत रविदास की कुटिया पर पहुँचा क्योंकि उसे ज्ञात था कि रविदास एक जोड़ा जूता रोज दान करते हैं। ब्राह्मण का आदर–सत्कार करके संत रविदास ने अपने हाथों बनाया हुआ जूते का एक नया जोड़ा उसे भेंट किया। ब्राह्मण की आकांक्षा पूरी हुई। उसने गद्गद् होकर विदा माँगी और बताया कि उसे गंगा की पूजा करने जाना है। संत रविदास ने एक सुपारी देकर ब्राह्मण से कहा कि मेरी ओर से यह सुपारी गंगा जी को भेंट कर देना। ब्राह्मण सुपारी लेकर गंगा जी की ओर चला गया।

राजा की ओर से की जानेवाली पूजा समाप्त कर ब्राह्मण को उस सुपारी की याद आयी जो रविदास जी ने दी थी। वह उस सुपारी को गंगा जी के जल में प्रवाहित करने जा रहा था कि लहरों के बीच से स्वयं गंगा जी ने निकलकर उसे अपने हाथों में ग्रहणकर लिया। ब्राह्मण आश्चर्यचकित–सा रह गया। तभी, गंगा जी ने उस ब्राह्मण को एक सोने का ककण भी दिया और कहा कि मेरे प्रिय भक्त को मेरे प्रसाद के रूप में यह कंकण पहुंचा देना। ब्राह्मण जो अब तक हत्बुद्धि–सा कंकण लिये खड़ा था सोचने लगा कि वर्षो हो गये उसे गंगा जी की पूजा करते हुए किन्तु, कभी उसे गंगा जी के दर्शन नहीं हुए और आज संत रविदास की एक सुपारी से वे इतनी प्रसन्न हो गयीं कि स्वयं अपने हाथों से उनकी भेंट स्वीकार की। अवश्य ही संत रविदास अपनी परमसिद्धि पर पहुँचे हुए महात्मा हैं।

यही सब सोचता हुआ ब्राह्मण अपने घर पहुँचा तो उसे इस बात का लालच सवार हुआ कि यदि सोने का कंकण राजा को दे दे तो उसे बहुत–सा पुरस्कार मिल सकता है। अतः ब्राह्मण संत रविदास के पास न जाकर राजा के पास पहुँचा। कंकण देखते ही राजा बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने अपनी महारानी को दे दिया। रानी उस कंकण पर इतनी मुग्ध हो गयी कि उसने राजा से उसी प्रकार के दूसरे कंकण की माँग की। राजा ने दूर–दूर के स्वर्णकार एवं कारीगर बुलवाये पर कंकण कोई न बना सका। इधर रानी का हठ इतना बढ़ गया कि वह बीमार हो गयी। रोग–शैय्या पर भी उसे कंकण की धुन लगी रहती थी। बेचारा राजा परेशान हो गया। उसने उस ब्राह्मण को खूब फटकारा कि वह ऐसा कंकण क्यों ले आया जिसने उसके दाम्पत्य जीवन का सारा सुख समाप्त कर दिया। कुपित होकर राजा ने यह भी आज्ञा दे दी कि ब्राह्मण यदि इसी प्रकार का दूसरा कंकण नहीं लायेगा तो उसे मृत्युदंड दिया जायेगा। ब्राह्मण ने घबराकर कंकण–सम्बन्धी सारी कथा आदि से अंत तक राजा को बता दी और कहा कि गंगा जी द्वारा प्रदत्त कंकण वस्तुतः संत रविदास के लिए था और अब वैसा दूसरा कंकण उन्हीं की कृपा से प्राप्त हो सकता है।

यह सुनकर राजा को बड़ा क्षोभ हुआ। ब्राह्मण पर उन्हें और भी क्रोध चढ़ आया। इधर रानी की दशा बिगड़ने लगी। आखिरकार मंत्रियों के परामर्श पर राजा स्वयं उस ब्राह्मण और सोने के कंकण के साथ संत रवितदास की कुटी में पधारा। उसने संत रविदास से सारी स्थिति कह सुनायी। संत रविदास के सौम्य मुद्रा में कोई अंतर नहीं आया। उन्होंने ब्राह्मण को क्षमा कर दिया, और कुटी के पास बने कुण्ड के किनारे खड़े होकर गंगा जी से प्रार्थना की कि वे उसी प्रकार का एक कंकण प्रदान कर रानी के प्राण बचायें। संत रविदास द्वारा आह्वान होते ही कुण्ड से एक सुन्दर हाथ निकला और उसने संत रविदास को उसी प्रकार के कई कंकण प्रदान किये, जिनमें से संत रविदास ने केवल एक ही ग्रहण किया। राजा को कंकण देते हुए संत रविदास ने रानी को पूर्णतः स्वस्थ होने का आशीर्वाद भी दिया।

राजा ने दूसरा कंकण जब रानी को दिया तो वह बड़ी प्रसन्न हुई और उसे शीघ्र ही स्वास्थ्य लाभ हुआ। राजा ने पूरी कथा जब रानी को सुनायी तो उनका हृदय भी संत रविदास

के प्रति भक्ति और श्रद्धा से भर उठा। दोनों ने संत रविदास से दीक्षा ली और नित्य उनके सत्संग में जाने लगे।

कबीर–रैदास–संवाद

एक कथा के अनुसार संत रविदास और कबीर के बीच काफी लम्बी धार्मिक वार्ता हुई। संत रविदास की विद्वत्ता और उनके ज्ञान से प्रभावित होकर संत कबीर ने उन्हें ''संतों में श्रेष्ठ संत'' कहकर सम्बोधित किया।

चित्तौड़ यात्रा

चित्तौड़ की रानी झाली ने संत रविदास को चित्तौड़ आने के लिए निमंत्रित किया था। विभिन्न तीर्थों की यात्रा करते हुए संत रविदास चित्तौड़ पहुँचे। वहाँ उनकी शिष्या रानी झाली ने उनका बड़ा स्वागत किया। कुछ क्षेत्रों में यह भी माना जाता है कि संत रविदास भगवत् प्रेम दिवानी मीराबाई के निमंत्रण पर चित्तौड़ पधारे थे।

मीराबाई द्वारा भोज

जनश्रुतियों के अनुसार संत रविदास से गुरुदीक्षा लेने के कारण मीराबाई को अपने घर और नगर में एक उग्र विरोध का सामना करना पड़ा। न तो उनके स्वजनों, बन्धु, बान्धवों एवं सम्बन्धियों को अच्छा लगा और न चित्तौड़ के अन्य द्विज समाज को। किन्तु मीरा ने किसी की न सुनी और वे गुरु रविदास के गुण ही गाती रहीं। यह भी कहा जाता है कि चित्तौड़ के अनेक ब्राह्मण और क्षत्रिय राजा के पास गये और उनसे इस बात की शिकायत की कि राजकुल की कन्या द्वारा संत रविदास से दीक्षा लेना उन सबके लिएं अपमानजनक बात है।

किन्तु, मीराबाई इन सभी सांसारिक प्रपंचों से ऊपर उठ चुकीं थीं। उन्होंने संत रविदास को चित्तौड़ आने का निमंत्रण भेजा। कहा जाता है कि संत रविदास के चित्तौड़ आने पर मीराबाई ने एक वृहत् स्वागत– समारोह एवं प्रीतिभोज का आयोजन किया। भोज के अवसर पर उन्होंने घी और तेल के तालाब भरवाये। आज भी चित्तौड़ यात्रियों को ये तालाब दिखाये जाते हैं। दूर–दूर से चारों वर्णों के लोग भोज में शामिल हुए। संत रविदास को आया हुआ जानकर उच्च जाति के लोगों ने इस बात की जिद्द की कि उनकी रसोई अलग पकेगी। मीराबाई अतिथियों की इस बात से असमंजस में पड़ गयीं। उन्होंने जाकर अपने गुरु संत रविदास से सारी समस्या कह सुनायी। परम संत रविदास जी सब कुछ सुनकर मुसकरा दिये और उन्होंने अपनी शिष्या मीराबाई को भोज में आये हुये लोगों के कथनानुसार रसोई का अलग–अलग प्रबन्ध करने की आज्ञा दी। भोज का समय आया। लोगों को भोजन परोसा गया और जब सबने भोजन करना शुरू कर दिया तो देखा यह गया कि ब्राह्मण, क्षत्रिय अतिथि के दोनों ओर संत रविदास जी विराजमान हैं। सभी हैरान हो गये, जिधर देखें उधर संत रविदास, उनकी सैकड़ों हजारों मूर्तियाँ सभी तरफ दिखायी पड़ने लगीं। परिणामतः वर्णाभिमानियों की

गर्दन लाज और भय से नीचे झुक गयी। सभी उच्च जातिवालों ने मन ही मन संत रविदास से अपनी भावनाओं के लिए माफी माँगी।

कुछ स्थानों पर इस कथा से सम्बद्ध एक और घटना भी बतायी जाती है जिसके अनुसार संत रविदास ने चित्तौड़ में अपने विरोधियों को सद्‌बुद्धि देने के लिए एक बार अपने भगवान् की मूर्ति को सिंहासन सहित नदी में विसर्जित कर दिया और सभी धर्मात्माओं को चुनौती दी कि यदि उनमें से कोई भी सच्चा भक्त या धर्मात्मा हो तो मूर्ति को पुनः बुलाकर भोग लगावे। जब कोई वैसा नहीं कर सका तो संत रविदास ने अपने भगवान् का आह्‌वान किया। सबकी नजरों के सामने भगवान् का सिंहासन नदी में उतराता हुआ संत रविदास के पास आ गया और उन्होंने श्रद्धापूर्वक भगवान् का भोग लगाया।

गंगा जी द्वारा राजा को दण्ड

कहते हैं कि अपनी यात्रा के दौरान एक बार संत रविदास माधौगढ़ गये। वहाँ गंगा जी के प्रसाद के लिए एक बहुत बड़ा भंडारा किया गया। अनेक साधु–संत और महात्मागण एकत्र हुए। भक्त रविदास से गंगा जी इतनी प्रसन्न थीं कि वे परम सुन्दरी कन्या के रूप में स्वयं भोग लेने के लिए आयीं। भोज में भाग लेनेवाले सभी लोग उस कन्या के मनोहर रूप से प्रभावित हुए। सधेगढ़ के राजा भी वहाँ आये हुए था। कन्या को देखकर वह भी दंग रह गये। उस पर वह इतने आसक्त हो गये कि वह संत रविदास को बुलाकर कहा कि वह उस कन्या से उनका विवाह कराने का प्रयत्न करें अन्यथा उन्हें अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ेगा। संत रविदास को राजा की क्षुद्र बुद्धि पर बड़ा खेद हुआ। अतिथि कन्या से इस प्रकार की बात करके उसका अपमान करना उन्होंने स्वीकार नहीं किया।

राजा कुपित होकर संत रविदास को प्राणदण्ड देने का निश्चय करने जा ही रहा था कि कन्या–वेश में गंगा जी को सारी बातें ज्ञात हो गयीं। भक्त रविदास पर कोई संकट न आये इसलिए उन्होंने स्वयं जाकर राजा से कहा कि वह विवाह के लिए तैयार हैं किन्तु बारात को तुरंत और उसी स्थान पर आना चाहिए।

राजा प्रसन्नता से गद्‌गद् हो गया। उसने शीघ्रातिशीघ्र बारात की तैयारी की और बाजे–गाजे सहित पूरी बारात सजाकर संत रविदास के आश्रम पर आ पहुँचा। आश्रम के पास एक बड़ा कुण्ड था। उसी कुण्ड में चारों ओर बारात टिका दी गयी।

विवाह का समय आया। सुंदरी कन्या अपना पूरा सिंगार करके बारात के सामने आयी और सबके देखते–देखते कुण्ड में फाँदकर अंतर्ध्यान हो गयी। बारात के सभी लोग अभी आश्चर्यचकित होकर कन्या के फाँदने की बात कर ही रहे थे कि एकाएक मोटी और तेज जलधारा कुण्ड से उठकर चारों ओर प्रवाहित होने लगी और क्षण मात्र में राजा सहित सारे बाराती उसमें डूब गये। दर्शकों को इस बात पर और भी आश्चर्य हुआ कि उन व्यक्तियों का बाल तक बाँका नहीं हुआ जो संत रविदास के भक्त थे और राजा के विवाह के समर्थक नहीं

थे। पूरे राज्य में यह सूचना फैल गयी कि गंगा जी स्वयं संत रविदास के भंडारे में पधारी थीं और उन्होंने राजा को उसकी कुप्रवृत्ति के लिए दण्डित किया।

कुंभ श्याम का मंदिर

अनेक रविदासी भाइयों का विश्वास है कि चित्तौड़ में कुंभ श्याम का जो मंदिर है उसे मीरा ने संत रविदास के आगमन पर बनवाया था तथा संत रविदास ने अपने जीवन के अंतिम दिन उसी मंदिर में भगवान् की उपासना करते हुए बिताये थे। यह भी कहा जाता है कि कुंभ श्याम के मंदिर में उसी श्यामली मूर्ति की स्थापना है, जिसे संत रविदास जी ने एक बार सिंहासन सहित सरिता में विसर्जित कर दिया था और पुनः आह्वान करने पर उनके पास आ गयी थी।

अखंड ज्योति

संत रविदास के महानिर्वाण से सम्बन्धित कथा में बताया जाता है कि मीराबाई द्वारा बनवाये गये कुंभ श्याम के मंदिर में संत रविदास नित्य पूजा करते थे। एक दिन जब वह पूजा के उपरांत मंदिर से बाहर निकले तो कुछ धूर्त पाखंडियों ने उन्हें घेरकर बहुत परेशान किया और कहा कि यज्ञोपवीतरहित व्यक्ति द्वारा मंदिर में पूजा करना निषिद्ध है। कदम–कदम पर पाखंडियों द्वारा किये गये अपमान से संत रविदास विक्षुब्ध हो उठे और उन्होंने आवेश में आकर पाखंडियों से कहा, "लो यह देखो, यज्ञोपवीत।"

इतना कहते ही उनके शरीर पर चाम के नीचे से स्वर्णिम यज्ञोपवीत चमक उठा। कहते हैं कि उस यज्ञोपवीत की चमक इतनी तेज थी कि मानो एक साथ अनेक सूर्य चमक उठे हों। उस चकाचौंध के साथ ही संत रविदास की आत्मा सूर्य की अखंड ज्योति में लीन हो गयी। केवल उनके दो पद चिह्न वहाँ पर अंकित रह गये जो आज भी कुंभ श्याम के मंदिर के ऊँचे चबूतरे पर दाहिनी ओर देखे जा सकते हैं। यह स्थान संत रविदास जी की छतरी के नाम से प्रसिद्ध है।

कहते हैं कि संत रविदास जी के महानिर्वाण की सूचना लेकर उनके भक्तगण जब उनकी पत्नी के पास उनकी कुटी में पहुँचे तो उन्हें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि संत रविदास की धर्मपत्नी भी सशरीर अंतर्ध्यान हो चुकीं थीं।

●●●

संत रविदास : भावधारा

परम विश्व का प्रत्येक कण स्पन्दित होता रहता है। यही काल–पुरुष शिव का नृत्य है। सृष्टि का प्रत्येक कण झूमता हुआ किसी लीला नृत्य के आनन्द में निमग्न है। लीला स्वयं में महाशक्ति का, स्वयं के भीतर, स्वयं का रमण व विमर्श है।

महाशक्ति का परमस्वरूप क्या है? उसका आयाम क्या है? उसके दिक् और काल की परम व्यापकता का स्वरूप क्या है?

महासत्ता की भारतीय अवधारणा अनादि–अनन्त सर्वरूप और सर्वव्यापक एवं दिक्काल कार्य कारणातीत है। उसका स्पष्ट स्वरूप हमें ऋग्वेद और भागवत् में प्राप्त होता है।

वैदिक दर्शन में विश्व की आधारभूत परमसत्ता के दो नाम सर्वत्र प्रसिद्ध हैं–विज्ञान और ब्रह्म। विज्ञान मूल पदार्थ के कारणात्मक अर्थ को स्पष्ट करता है और ब्रह्म उसके कार्यरूप विश्व के अर्थ को। परमसत्ता को विज्ञानधन भी कहा गया है। यह अर्थात् ब्रह्म निरतिशय वृहत होने वाला या करने वाला है। वह जल में लवण की तरह विश्व में विलीन है। जल में डाला गया लवण खंड जल में विलीन हो जाता है, उसे पुनः निकाला नहीं जा सकता और न उस ज़ल का कोई अंश ऐसा रहता है जो लवणयुक्त न हो।

ऋषि परम्परा के समक्ष विश्व की विज्ञान धन महासत्ता का कोई भी तत्त्व अलक्षित नहीं है। उसने महाकाल की सीमा लांघकर सृष्टि के परम वैज्ञानिक रहस्यों की सृष्टि की है। इस संदर्भ में श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान कृष्ण का एक वचन परम प्रामाणिक है। उन्होंने कहा है कि 'विज्ञान सहित इस सम्पूर्ण ज्ञान को मैं तुमसे कहूँगा जिसको जान लेने के पश्चात और कुछ भी जान लेने के लिए शेष नहीं रह जाता।'

भारत की प्राचीन संस्कृति ने सम्पूर्ण को ही अपने मंत्र–दर्शन में देखा है। ऋषियों की सनातन संस्कृति का सुप्रसिद्ध शान्तिपाठ भारतीय चिन्तन–दर्शन की आत्मा है।

ऊँ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात पूर्ण मुदच्येते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।

अर्थात्, परम सब प्रकार से पूर्ण है, इससे अनुस्यूत यह जगत भी सम्पूर्ण है क्योंकि उस

पूर्ण से ही यह सम्पूर्ण हुआ है, सम्पूर्ण से सम्पूर्ण के सम्पूर्ण प्रथक हो जाने पर सम्पूर्ण ही शेष रहता है। अतः विश्व में कुछ भी अपूर्ण नहीं है, न कोई परमाणु ही अपूर्ण है और न कोई जैव इकाई ही अपूर्ण है– चाहे वह एक कोशीय प्राणी हो या मनुष्य।

भारतीय सभ्यता का यह सनातन सत्य सर्वज्ञ सम्पूर्ण है। यह महान् मंत्र जीवन के गहन रहस्यवाद तक ही सीमित नहीं। इस सत्य का उद्घाटन उच्चतम गणित का आश्रय लेकर ही किया गया है– पूर्ण को पूर्ण से पृथक कर देने पर पूर्ण ही शेष रहता है। श्रुति का स्पष्ट कथन है–'योऽ सावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि'। 'यह जो वह है, वह परमपुरुष, मैं वही हूँ।' पूर्ण पुरुष का लघुतम अंश–मानव स्वयं पूर्ण है, परम है।

भारतीय ऋषि मनीषा ने परम सत्य के रहस्यों को जिन सात्विक गहराइयों में उतरकर देखा था उनका अति संक्षिप्त उल्लेख हमने ऊपर किया है। वह इस तथ्य के प्रमाण हैं कि मानव प्रारंभ से ही अपने चारों ओर की समस्त प्राकृतिक एवं लौकिक व्यापारों, घटनाओं के पीछे किसी अदृश्य–अज्ञात सत्ता का अनुभव करता आ रहा है। उसने उस अलौकिक सत्ता को जानने–समझने के प्रयास भी किये हैं। अपने इन प्रयासों में उसने विभिन्न कालों और परिस्थितियों में उस परम सत्ता के सम्बन्ध में तरह–तरह की परिकल्पनायें भी कीं। किन्तु उसकी समस्त परिकल्पनाएं अधिक समय तक उसे संतोष नहीं प्रदान कर सकीं। फलस्वरूप उसकी जिज्ञासा ने उसे पुनः चिंतन करने पर विवश किया। परम सत्ता के सम्बन्ध में उसने जितना अधिक सोचा उतनी ही अधिक वह उसकी कल्पना से परे नजर आई। अंत में हारकर सभी चिंतकों को उस विषय में अपनी असमर्थता स्वीकार करनी पड़ी। उपनिषदों में बहुत पहले ही उस परमसत्ता को 'नेति' कहा जा चुका है। संतों व चिंतकों में से बहुतों ने उसे इन्द्रिय, मन, बुद्धि और चेतना आदि सबसे परे देखा, किसी ने उसको सबमें मौजूद पाया तो कभी उसमें सबको देखा गया।

ब्रह्म सम्बन्धी जिज्ञासा अपने स्थान पर अक्षुण्ण रही। उससे सम्बन्धित परिकल्पनाएँ बदलती रहीं। अनेक अभिव्यक्तियां, ऐसी भी मिलती हैं जो परस्पर विरोधी जैसी लगती हैं जैसे एक ही ब्रह्म कभी निराकार है तो कभी साकार, कभी निर्गुण है तो कभी सगुण, कभी ज्ञान मार्ग तो कभी भक्ति मार्ग।

ये विचारधाराएँ परस्पर विरोधी जैसी लगती अवश्य हैं किन्तु वे परस्पर विरोधी हैं नहीं। वस्तुतः ये सभी अदृश्य और अव्यक्त परमसत्ता के सम्बन्ध में मनुष्य की जिज्ञासा की तुष्टि के लिए किये गये विभिन्न प्रयास हैं जो अपनी विविधता में भी एक सूत्र में बंधे हुए हैं और वह सूत्र है परम सत्ता या ब्रह्म के प्रति मानव की मूल और अनन्त जिज्ञासा, उस अज्ञात सत्ता को जानने, उसे पहिचानने और उसका सान्निध्य प्राप्त करने की उत्कट अभिलाषा, विकलता अथवा बेचैनी।

ब्रह्म और आत्मा

संत रविदास के सम्पूर्ण चिंतन में हमें प्रारम्भ से अंत तक उसी बेचैनी या विकलता की अनुभूति नजर आती है। वे कभी उस परम सत्ता को विराट रूप मानते हैं, तो कभी उसे घट–घट

वासी। उनके अनुसार उस ब्रह्म के चरण पाताल में और उसका शीश आकाश है–

चरण पताल शीश असमाना, सो ठाकुर कस संपुट समाना।
शिव सन्कादि अंत न पाया, ब्रह्माखोजत जनम गंवाया।।
नख परस्वेद जाके सुरसरि धारा, रोमावली अट्ठारह मारा।
चार वेद जाके समिरत सांसा, भगति हेतु गावत रैदासा।।

ब्रह्म के इस विराट् स्वरूप का वर्णन भला कौन कर सकता है किसमें है इतनी सामर्थ्य? जो घट–घट में व्याप्त है उसका वर्णन स्वल्प बुद्धि और सीमित साधनों का मानव कैसे कर सकता है? यही कारण है कि संत रविदास भी उसे 'कथै जनि कोई' की श्रेणी में स्थान देते हैं। उनके विचार से....

सबमें हरि है, हरि में सब हैं.......

❖ ❖ ❖

आदि अंत औसान एकरस, एक तार ही भाई।
थावर संगम, कीट–पतंगा, पूरि रह्यो हरि राई।।
सर्वेश्वर, सर्वांगी, सब गाते, कर्ता–हर्ता सोई।
सिव न असिव, न साध अरु सेवक उनै भाव नहि होई।।

❖ ❖ ❖

आवरण वरण कथै जनि काई, घट–घट व्यापि रह्यो।

ऐसे ब्रह्म की प्राप्ति के सुख का अनुभव ही आनन्द की चरम सीमा है। किन्तु वह अनुभव हो कैसे?। ब्रह्मानंद की प्राप्ति संत रविदास की दृष्टि में संभव अवश्य है किन्तु उसका एक ही मार्ग है। आत्मचिंतन द्वारा अंतर और मस्तिष्क को ज्ञान–ज्योति से प्रकाशित करके ही ब्रह्म प्राप्ति के सुख का अनुभव किया जा सकता है। आत्मा ज्ञान का स्वरूप है और आत्मा ही ज्ञाता है। ज्ञात और ज्ञेय में वस्तुतः कोई अंतर नहीं है, दोनों ही एक हैं। आवश्यकता केवल आत्मचिंतन की है जो ज्ञान के कपाट खोलकर भेद उत्पन्न करने वाले भ्रम का अंत कर सके। सत्य के स्वरूप और ब्रह्म की जो परिभाषाएं अब तक की गयी हैं वे वस्तुतः भ्रमपूर्ण हैं। ब्रह्मा को केवल अभ्यास द्वारा अनुभव किया जा सकता है। उसे जानते ही जानते जाना जा सकता है। वह तो सर्वव्यापक है, बाहर, भीतर, गुप्त और प्रकट आदि मध्य और अंत में वही एक रम रहा है। उसे अलग या दूसरा मानना भ्रमित होना है। उसमें और आत्मा में ठीक वैसा ही सम्बन्ध है जैसा स्वर्ण और स्वर्ण से बने अलंकार का–

जस हरि कहिए तस हरि नाही, है हरि बस कुछ ऐसा।
जानत जानत जान रह्यो सब, मर्म कहा निज जैसा।।

कहत आन, अनुभवत आन, रस मिलै न बेगर होई।
बाहर–भीतर, प्रगट, गुप्त, घट–घट रमत और न कोई।।
आदिहु एक, अंत पुनि सोई, मध्य उपाधि जु कैसे?
हैं ये एक, पै भ्रम सूं दूजो, कनक अलंकृत जैसे।।

ब्रह्म और आत्मा के परस्पर सम्बन्ध के विषय में संत रविदास शंकर के अद्वैतवाद के अनुयायी जान पड़ते हैं। अद्वैत–वेदान्त के अनुसार स्थूल और सूक्ष्म शरीर के साथ–साथ माया से प्रभावित जो आत्मा है उसी का दूसरा नाम जीव है। आत्मा और ब्रह्म एक ही हैं, दोनों में न कोई अंतर है और न दोनों को किसी प्रकार अलग किया जा सकता है। ब्रह्म माया से परे होने के कारण ईश्वर कहलाता है, आत्मा उसी का अंश अथवा प्रतिबिंब है। इसी मत का अनुसरण करते हुए संत रविदास भी आत्मा को ब्रह्म से अलग नहीं मानते हैं। दोनों में भेद मानना उनके विचार से सांसारिक भ्रम है जिसकी उत्पत्ति माया के द्वारा होती है। 'कनक' और 'कुण्डल', 'सूत' और 'पट' 'जल' और 'तरंग' तथा 'पाहन' और 'प्रतिमा' आदि जिस प्रकार एक ही तत्त्व है उसी प्रकार ब्रह्म और आत्मा में भी कोई अंतर या भिन्नता नहीं है। ब्रह्म की व्यापकता में आत्मा का अस्तित्व उसी प्रकार है जैसा कबीर के शब्दों में 'जल में कुंभ, कुंभ में जल है बाहर भीतर पानी, और फूटा कुंभ जब जलहि समाना'। संत रविदास इस मत को कुछ दूसरे शब्दों में कहते हैं। वे ब्रह्म को 'सागर' और आत्मा को 'सलिल' के रूप में देखते हैं।

'सलिल गवन कियो लहर महोदधि
जल केवल जल माहीं'

किन्तु आत्मा जब माया के भ्रम जाल में फंस जाती है तो उसे 'जीव' की संज्ञा दी जाती है। जीवन सांसारिकता में ग्रस्त अचेत रहता है। कर्म बन्धन में फंसा समस्त योनियों में भटकता फिरता है तथा उसे सुकीर्ति और अपकीर्ति का ध्यान नहीं रहता–

गोविन्दे भौ–जल व्याधि अपारा, तामै कछु सूझत वार न पारा।

. . . .

लौह की नाव पषानन बीझी, सुकीरत भाव विहीना।
लोभ तरंग, मोह गयो काला, मीन भयो मन लीना।।२।।
दीनानाथ सुनहु बिनती, कौने हेतु विलम्बन।
रैदास–दास संत चरनहि, मोहि दीजे अवलम्बन।।३।।

यही कारण है कि संत रविदास ने जीव को अधम कहकर पुकारा है –

अनेक अधम जीव, नाम गुन उभरे
पतित पावन भये परसि सारं।।

जीव अधम क्यों है? इसका उत्तर भी संत रविदास ने दिया है। उनका कथन है कि जीव

'भवजाल' में फंसकर ब्रह्म को भूल जाता है। लोभ, लालच और ममता आदि उसे घेर लेती है। ममता में वृद्धि होते ही वह सब–कुछ खो बैठता है.....

मैं अस ममता देखि सकल जग 'मैं' से मूल गंवाई।

यह 'मैं' की भावना ही संत रविदास के अनुसार मनुष्य को अपने सच्चे कर्त्तव्य पथ से विचलित करती है क्योंकि निखिल ब्रह्मांड में जो कुछ भी है वह निर्गुण ब्रह्म और सगुण माया से ही निर्मित है। सगुण माया नाशवान और अस्थिर है किन्तु निर्गुण ब्रह्म सबके आदि में भी है और अंत में भी। जिस प्रकार घट के पहले भी आकाश रहता है। घट के भीतर भी और घट टूट जाने के बाद भी आकाश का नाश नहीं होता उसी प्रकार ब्रह्म भी अचल, अमर और अटल है। सृष्टि के सृजन में भी उसका अंश है और उसके अंत के बाद भी उसका अस्तित्व रहता है। जब तत्त्व में अन्य तत्त्व मिलते हैं तो उसका नाम शरीर होता है किन्तु उन तत्त्वों का निःशेष होने पर देहाभिमान जाता रहता है। जब पंचतत्त्वों में शारीरिक तत्त्व मिल जाते हैं तब 'मैं' का कहीं अस्तित्व ही नहीं रहता। 'मैं' से सम्बन्धित सारी बातें माया से पूर्ण हैं क्योंकि इन तत्त्वों का अंत हो जाने पर एक भात्र ब्रह्म ही शेष रहता है। संत रविदास ने एक नहीं अनेक स्थानों में 'मैं' की भावना त्यागने पर जोर दिया है।

मनुष्य योनि

संत रविदास ने मनुष्य योनि को सर्वश्रेष्ठ माना है। अन्य संतों या भक्तों की भांति वह भी मनुष्य योनि को भगवत् भक्ति और साधना के लिए एक स्वर्णिम अवसर मानते हैं। उनका कथन है–

त्रिगुण योनि अचेत सम्भव, पाप–पुण्य असोच।
मानुषावतार दुर्लभ, तिहूं संगति पोच।।

असंख्य योनियों में असंख्य कष्ट के झेलने के बाद प्राणी को मनुष्य योनि प्राप्त होती है। देवता तक इसके लिए तरसते हैं क्योंकि इसी योनि में आकर पूर्ण मोक्ष के लिए साधना संभव है। मनुष्य योनि में आकर ही सबने उत्तम गति प्राप्त की है। मनुष्य योनि में जीव को विवेक की प्राप्ति होती है जिसकी सहायता से वह माया के जाल से मुक्ति पा सकता है। ऐसे स्वर्ण अवसर का सदुपयोग न करना सबसे बड़ी मूर्खता है। इसीलिए संत रविदास ने मनुष्य योनि पाने वाले जीव को संसार और उसके माया जाल से सावधान भी किया है। उनका कथन है–

अति रस सार अपार भौ–सागरा,
जामै जनम–मरण संदेह भारी।
काम–भ्रम, क्रोध भ्रम, लोभ भ्रम, मोह भ्रम
अनन्त–भ्रम छेदि मम, करसि यारी।।
पंच संगी मिलि, पीड़ियो प्राणिया
जाइ न सकौ वैराग भागा।

मनुष्य योनि में आते ही प्राणी के सम्मुख अनेक भ्रमजाल स्वतः आ जाते हैं। विषय–वासना और माया–मोह के जाल उसे ईश्वर भक्ति से दूर खींच ले जाने का उपक्रम करते हैं। अतः जहां एक ओर मनुष्य–योनि दुर्लभ और अमूल्य है वहीं इसकी सुन्दरता और इसके आकर्षणों पर इतराने वालों को यह भी ध्यान में रखना चाहिए–

धन–जोबन की झूठी आसा।
सत्–सत् भाषै जन रैदासा।।

❖ ❖ ❖

धन जोबन हरि ना मिलै, दुख दासन अधिक अपार।

अतः, संत रविदास के अनुसार मनुष्य योनि और शरीर की सार्थकता तभी है जब प्राणी संसार के मायाजाल में न फंसकर अपने सच्चे धर्म का पालन करे और भगवत् भक्ति द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति के लिए प्रयत्नरत रहे।

कर्म–बन्धन

संत रविदास कर्म–बन्धन में विश्वास करते थे। उनकी मान्यता थी कि जो जैसा करेगा वैसा ही फल उसे प्राप्त होगा। वह एक स्थान पर कहते हैं–

जो कुछ बोया लूनिये सोई।
ता में फेर–फार कस होई।।

अनेक स्थलों पर संत रविदास ने सांसारिक बन्धन को एक 'भरम' ही माना है। उनका विश्वास है कि एकमात्र ईश्वर ही मनुष्य को कर्म–बन्धन से मुक्ति दिला सकता है। अतः वह ईश्वर से ही पूछते हैं :

ऐसे करम धरम जग बान्ध्यो।
छुटै तुम बिन कैसे, हो हरि।।

वह 'कर्म–बन्धन' और 'मोह–फांस' को एक समान मानते हैं। इन दोनों का क्षेत्र विस्तृत और व्यापक है। पांचों कर्मेन्द्रियों का अस्तित्व उन्हें इसीलिए 'पंचदोष' या दुखदायी जान पड़ता है क्योंकि वे जीव को कर्म के लिए विवश करती हैं। उनका कथन है–

पंचदोष, असाध सा महि कौन ताकी आस।।१।।
जल थल जीव जहां तहां लौ, करम वा संग जाय।
मोह फांस अबद्ध बांध्यो, करिय कौन उपाय।।२।।

माया

इस संसार में निर्गुण और सगुण दोनों हैं। निर्गुण तो ब्रह्म है जो अजर, अमर, शाश्वत, निश्चल, अखंड अनादि, नखिल और निष्कलंक है। सगुण माया है जो साकार है, नश्वर है, चपल

और चंचल है। ब्रह्म निरुपाधि है और माया उपाधिरूप है। माया का भास होता है ब्रह्म का नहीं। माया की रचना होती है, उसका नाश भी होता है किन्तु ब्रह्म की न तो रचना होती है और न उसका नाश होता है। अज्ञानी को माया अच्छी लगती है। किन्तु ज्ञानी उससे दूर भागता है। माया का सर्वत्र विस्तार है और उसमें ब्रह्म की स्थिति छिपी रहती है, ज्ञानी जन माया को छोड़कर ब्रह्म को उसी प्रकार प्राप्त करते हैं जैसे बुद्धिमान व्यक्ति सिवार हटाकर जल को ग्रहण करते हैं। माया मानव मन में संशय का समावेश करती है, उसकी आँखों के समक्ष अज्ञान और सांसारिकता के गहरे पर्दे का जाल बिछाती है। माया प्राणी को भटकाती है, उसमें संदेह की सृष्टि करती है।

प्राणी को ब्रह्म से दूर रखने में माया का वही स्थान है जो सूफी मत में 'बन्दे' को खुदा से दूर रखने में 'शैतान' का है। संसार में माया के प्रभाव के कारण मनुष्य उसी में अचेत पड़ा रहता है, माया द्वारा संचालित प्रपंच चक्र में ही उसका जीवन व्यतीत हो जाता है। काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह आदि माया के अस्त्र–शस्त्र हैं जो मनुष्य मात्र पर अपना प्रभुत्व कायम किये रहते हैं और उसे ईश्वर भक्ति से विमुख किये रहते हैं। कबीर ने इसी मद्य को 'महाठगिनी' की संज्ञा दी है। संत रविदास भी इस बदुरूपणी माया का परिचय देते हुए उससे प्राणी को सावधान करते हैं–

बरजि–बरजि बीठले, माया जग खाया।
महाप्रबल सबही सन, ये सुर–नर–मुनि भरमाया।।१।।
बालक, वृद्ध तरुन, अतिसुन्दर नाना भेष बनावै।
जोगी जती तपी संन्यासी पंडित रहन न पावै।।
बाजीगर की बाजी कारण, सबको कौतुक भावै।
जो देखे सो भूलि रहे, बांका चेला मरम न पावै।।२।।

माया पर विजय पाने का एक ही उपाय है और वह है ईश्वर भक्ति। भक्ति से ही भक्त के ज्ञान चक्षु खुलते हैं ओर ज्ञान चक्षुओं से ही वह माया की निःसारता एवं उसके थोथेपन को पहिचान पाता है। संत रविदास ने स्पष्ट कहा है–

माया के भ्रम कहां भूल्यो, जाहिगो करि झारि।।
देखि धौं इहां कौन तेरो, सगा सुत नहि नारि।
तोरि उतंग सब दूरि करिहैं, देहिंगे तन जारि।।१।।
प्रान गये, कहु कौन तेरो, देखि सोच–विचारि।
बहुरि इह कलिकाल मांहीं जीत भावै हारि।।२।।
यहु माया सब थोथरी, भक्ति रस–प्रतिकार।
कहै 'रैदास' सत् वचन गुरु के, सौं जीव तै न बिसार।।३।।

भक्ति

संत रविदास की भक्ति निश्चित रूप से प्रेम–प्रधान थी। उन्होंने इसीलिए उसे 'प्रेम भगति' की संज्ञा प्रदान की। प्रेम को प्रधानता देते हुए भी उन्होंने 'ज्ञान मार्ग' की उपेक्षा नहीं की।

उनके कथन के अनुसार प्रेमी 'ज्ञान का चांदना' करके अनन्य देव की सीढ़ी चढ़कर पर-ब्रह्म को प्राप्त कर सकता है।

संत रविदास, श्रीमद्‌भागवत में दी गयी नवधा भक्ति में से प्रत्येक को मानते थे। श्रवण, कीर्तन, स्मरण पादसेवा, अर्चन, बन्दन, दास्य, साख्य और आत्मनिवेदन प्रत्येक प्रकार की भक्ति में उनका विश्वास था। वह इन सभी का अनुगमन करते थे किन्तु उन्होंने सर्वाधिक महत्त्व आत्म निवेदन व साख्य भक्ति को ही दिया।

संत रविदास की 'प्रेम भगति' और 'साख्य भक्ति' तत्त्वतः एक ही है। अंतर केवल इतना ही है कि उनकी 'साख्य भक्ति' में प्रेम की प्रधानता है वह प्रेम के गहरे रंग में खेली हुई है। आत्मनिवेदन, भक्ति उसका मूलाधार है। ब्रह्म के प्रति अभिन्नता की भावना और अहंकार या मिथ्या अभिमान का अंत उनकी भक्ति का प्रथम और महत्त्वपूर्ण चरण है। प्रभुता और 'बड़ाई' को वह भक्ति मार्ग का अवरोध मानते हैं। उनका कथन है–

भगति ऐसी हमारी संतो, प्रभुता इहई बड़ाई
आपन अनत और नहि मानत, ताते मूल गवाई।।
मनै रैदास उदास ताहि तै, अब कछु मोंपै कर्‌यो न जाई
आपा खोए भगति होत है, तब रहैं अंतर उरझाई।।

संत रविदास की भक्तिविषयक अनेक पंक्तियां ऐसी भी हैं जिनके लोगों को विरोधाभास का संदेह हो सकता है। कहीं वह 'नवधा' भक्ति को 'स्वांग' की संज्ञा देते हैं तो किसी स्थान पर वे स्मरण, श्रवण, नाम, कीर्तन आदि नवधा भक्ति के विभिन्न प्रकारों को मान्यता प्रदान करते हैं। किन्तु उनकी उपासना पद्धति के सूक्ष्म अध्ययन से ज्ञात होता है कि वह वस्तुतः नवधा भक्ति के विरोधी नहीं थे। भक्ति के अंतिम और सर्वश्रेष्ठ चरण आत्मनिवेदन के सम्मुख अन्य आठ प्रकार की भक्ति के प्रकार स्वतः महत्त्वहीन हो जाते हैं। जहां सायुज्यता की स्थिति मिल गयी वहां अन्य प्रकार के साधनों की आवश्यकता क्या है।

संत रविदास ने भक्ति का सबसे सरल रूप अपनाया। उनमें और उनके भगवान में 'प्रेम रज्जु' का बन्धन है जो किसी भी दशा में टूट नहीं सकता। उनके अनुसार सच्ची भक्ति और लगन के सम्मुख भजन, कीर्तन, गायन, नर्तन आदि का कोई महत्त्व नहीं। 'परमतत्त्व' की पहचान ही भक्ति की चरमसीमा है। भक्ति के बारे में उनका स्पष्ट कथन है–

भक्ति ऐसी सुनहु रे भाई, आई भगति तब गई बड़ाई।
कहा भयो नाचे अस गाये, कहा भयो तप कीन्हे।
कहा भयो के चरण पखारे जौ लौं परम तत्त्व नहीं चीन्हे।।
कहा भयो जे मुंड मुड़ायो, कहा तीरथ–व्रत कीन्हे।
स्वामी दास, भक्त अरुसेवक, जो परम तत्त्व नहीं चीन्हे।।

कह रैदास तेरी भक्ति दूरि है, भाग बड़े जे पावै।
तब अभिमान, मेटि आपा पर, पिपलक हू चुनि खावै।।

भगवान के प्रति सच्चा प्रेम ही सर्वोपरि है और यह तब तक संभव नहीं है जब तक व्यक्ति 'मैं और मेरा', 'तू और तेरा' की भावना को नहीं छोड़ देता। जब तक देहाभिमान है , आत्मनिवेदन की भक्ति का पूरा उत्कर्ष असंभव है। इसलिए संत रविदास ने स्थान–स्थान पर व्यक्ति को इस मिथ्या–अभिमान के प्रति सजग और सचेत किया है।

संत रविदास ने अपने समय की सामाजिक और धार्मिक स्थितियों पर भी अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की है। उन्होंने समाज में प्रचलित धर्माडम्बरों और ढकोसलों को निःसार बताया है। उनका कथन है कि यदि व्यक्ति के हृदय में भगवान के प्रति सच्ची लगन नहीं है, सच्चा प्रेम नहीं है तो निश्चय ही समस्त प्रकार के 'पूजाचार' व्यर्थ हैं। वह कहते हैं–

थोथी काया, थोथी माया,
थोथा हरि बिनु जन्म गंवाया।
थोथा पंडित, थोथी बानी,
थोथी हरि बिनु सबै कहानी।

इसी भाव के संदर्भ में वह भक्ति के सम्बन्ध में यह भी कहते हैं–

राम नाम बिन जो कुछ करिये,
सो सब भरम कहाई

उन्होंने वाह्याडम्बरों का केवल विरोध नहीं किया वरन् उसके स्थान पर सच्ची साधना आराधना का पथ भी प्रकाशित किया–

मनसा मन्दिर धूप घुपाइये, प्रेम प्रीत की माल चढ़ाइए।।
चहुं दिसि दिबला बर रहे, जगजग है रह्यो रे।
जोति जोति सम जोति, जोति में हिलमिल लहै रह्यो रे।।

वाह्याडम्बरों के खंडन की जो शैली संत रविदास ने अपनायी थी वह कबीर की शैली की तुलना में अधिक उदार और उत्कृष्ट थी। कबीर की प्रवृत्ति में कहीं–कहीं विद्रोह और उपहास की भावना नजर आती है किन्तु संत रविदास ने खंडन का कार्य बड़े संयत रूप में शालीनता के साथ किया है जिसे एक बड़े संत की सहिष्णुता की देन ही समझा जाना चाहिए।

उनकी सहिष्णुता उनके सामाजिक सिद्धांतों में भी स्पष्ट करती है। उन्होंने मनु की वर्णाश्रम व्यवस्था की टीका टिप्पणी कहीं भी नहीं की। फिर भी उन्होंने इसी बात पर जोर दिया कि सभी जन एक ही भगवान की संतानें हैं, सभी को उनकी भक्ति का समान अधिकार है। भगवत् भक्ति के क्षेत्र में न कोई छोटा है न बड़ा। नीच से नीच व्यक्ति अपनी अनन्य भक्ति के कारण परम पद को प्राप्त कर सकता है जबकि उच्च से उच्च पंडित या ज्ञानी सच्ची भक्ति के

अभाव में संसार के आवागमन चक्र से मुक्ति नहीं पा सकता। इस संदर्भ में उनकी निम्नलिखित पंक्तियां उल्लेखनीय हैं–

गणिका थी किस करमा जोग।
पर पुरुषन सूं रमती भोग।।१।।
निशिवासर दुस्करम कमाय।
राम कहत बैकुंठै जाय।।२।।
नामदेव कहि जात के ओछ।
जाको जस गावे तिहुलोक।।३।।
भक्त हेत भगतन को मिले।
अंकभाल ले वीटल मिले।।४।।
कोटिजग जे कोई करै।
राम नाम सम तऊ न निस्तेरे।।५।।
निरगुन को गुन देखो आई।
देही सहित कबीर सिधाई।।६।।

उनका कहना है कि ईश्वर के दरबार में सबको समान स्तर प्राप्त है। अपने इस कथन के द्वारा उन्होंने उन प्रचलित सामाजिक रूढ़ियों का विरोध किया है जिसके अंतर्गत उस समय कुछ तथाकथित नीची जातियों के लिए उपासना और भक्ति के द्वारा बन्द समझे जाते थे। उनके अनुसार नीच जाति का व्यक्ति जिसके हृदय में 'प्रेम भगति' का संचार है उस ब्राह्मण से कहीं अधिक अच्छा है जो भगवान की भक्ति के प्रति उदासीन है। संत रविदास कहते हैं–

हम अपूज्य पूज्य भये हरिते, नाम अनूपम गावैं रे।
अष्टादस व्याकरन बखानै, तीन कालघट जीता रे।
'प्रेम भगति' अंतरगति नाहीं, ताते धानुक नीका रे।।
ताते भलो स्वप्न को शत्रु, हरिचरनन चित्त लखै रे।।

इस्लामी एकेश्वरवादी एवं पैगम्बर की सत्ता स्वीकार करने वाली भावना का हल्का सा प्रभाव भी संतों पर पड़ा है। फिर भी संतों को एकेश्वरवाद इस्लाम की भांति सगुण जैसा न होकर निर्गुण ही रहा। दूसरी मुसलमानी भावना, जिससे कुछ क्षणों तक संत–मत प्रभावित हुआ, सूफी विचारधारा थी। सूफियों का ईश्वर निर्गुण होते हुए भी 'प्रेमयुक्त सगुण' था तथा उसकी प्राप्ति की साधना का मूलाधार प्रेम था। अद्वैत वेदांत की भांति इसमें भी आत्मा और परमात्मा को अभिन्न माना गया है। गुरु का इसमें भी महत्त्वपूर्ण स्थान है।

संतमत में सूफी विचारधारा का समावेश अवश्य हुआ किन्तु अंतर यह रहा कि सूफी मतावलम्बियों ने 'अल्लाह' को अपनी 'माशूका' माना किन्तु संतों ने अपने को 'राम बहुरिया' मानकर प्रेम की साधना की।

संत मत में स्थान–स्थान पर वैष्णव भावना के विकास के लक्षण भी दिखाई पड़ते हैं। संतों ने इस वैष्णव भावना से प्रभावित होकर राम, हरी, माधव, मुरारी, आदि नामों को अपनाया किन्तु उन्होंने इन नामों का प्रयोग सगुण के संदर्भ से अलग रहकर अपने घट–घटवासी ब्रह्म के लिए सम्बोधन के रूप में ही किया। संत रविदास के राम और कृष्ण दशरथ के पुत्र अथवा गोकुल के कृष्ण नहीं थे। युग की आवश्यकता के अनुसार वर्ण विभाजन की कट्टरता, धार्मिक आडम्बरों और झूठे जातीय अभिमान के विरुद्ध संतों ने आवाज उठाई और स्नेह, मेल मिलाप, सहयोग, सहिष्णुता और शांति का संदेश दिया। यही सब कारण थे कि कवि अपनी वाणी द्वारा साहित्य और समाज पर अपनी अमिट छाप छोड़ सके।

संत रविदास की 'विमल वाणी' में न तो कबीर की भांति विभ्रम उत्पन्न करने वाला अटपटापन है और न भावों की जटिलता। उन्होंने अपने समय की प्रचलित भाषा में अपने आराध्य देव की उपासना के गीत गाये और वैसे ही सीधे और सरल शब्दों में समाज में व्याप्त वैषम्य का निराकरण करने का प्रयत्न किया। इन दोनों महान् उद्देश्यों की पूर्ति में उन्हें पूर्ण सफलता भी प्राप्त हुई।

संक्षिप्त मूल्यांकन

संत रविदास की 'बानियां' या पद ही प्राप्त हैं, जिनमें उनका विषय अधिकांशतः आध्यात्मिक रहा है। उनकी कुछ रचनाएं सामाजिक भी हैं। दोनों प्रकार की रचनाओं में उन्होंने आलोचनात्मक एवं रचनात्मक शैलियों को अपनाया है। उनकी समस्त काव्य रचना प्रधानतः शान्ति रस से ओत–प्रोत है। जहां तक साहित्यिक मूल्यांकन का प्रश्न है, हमें उसके सम्बन्ध में कोई धारणा निश्चित करने के पहले यह याद कर लेना चाहिए कि संत रविदास की काव्य रचना का उद्देश्य साहित्य–सृजन कतई नहीं था। वे प्रथमतः और पूर्णतः भक्त थे, कवि या साहित्यकार नहीं। फिर भी अपनी विचारधारा को व्यक्त करने के लिए उन्होंने जो भाषा या शैली अपनायी वह निश्चित रूप से किसी भी संत कवि की तुलना में हेठी नहीं मानी जा सकती। शिक्षित न होने पर भी उनमें एक सफल कवि की प्रतिभा थी और जनता के समक्ष वे अपने जो भी विचार रखना चाहते थे उसमें वे पूर्णतः सफल रहे। यह उनकी वाणी का प्रभाव ही कहा जा सकता है कि उनके निर्वाण के सदियों वर्ष बाद आज भी देश में उनके अनुयायियों की कमी नहीं है।

●●●

संत रविदास की संक्षिप्त ज्ञानेश्वरी

१. मनुष्य–योनि

त्रिगुण योनि अचेत संभव, पाप पुण्य असोच।
मानुषावतार दुर्लभ, तिहूँ संगति पोच।।

२. संसार और मायाजाल से सावधान रहने का संदेश

अति रस सार अपार भौ–सागरा,
जामै जनम–मरण संदेह भारी।
काम–भ्रम, क्रोध–भ्रम, लोभ– भ्रम, मोह– भ्रम
अनंत भ्रम छेदिमम, करसि यारी।।
पंच संगी मिलि पीड़ियो प्राणिया
जाइ न सको बैराग भागा।
पुत्र वर्ग, कुला–बन्धु तै भार ज्यो।
भरवै दसो–दिशा, सिर काल जागा।२।।

३. मनुष्य योनि की सुन्दरता पर फूलनेवालों के लिए

धन–जोवन की झूठी आशा, सत्‌सत् भाषै जन रैदासा।।
धन–जीवन हरि ना मिलै, दुख दारुन अधिक अपार।।

४. कर्म–बन्धन

जो कुछ बोया लूनिये सोई।
तामे फेर–फार कस होई।।

❖ ❖ ❖

ऐसे करम धरम जग बान्ध्यौ।
छुटै तुम बिन कैसे, हो हरि।।

पंच दोष असाध जा महि, कौन ताकी आस।।
जल–थल जीव जहाँ–तहाँ लौं, करम वा संगै जाय
मोह फाँस अबद्ध बाध्यौ, करिय कौन उपाय।।२।।

५. माया

बरजि बरजि बीठले, माया जग खाया।

महा प्रबल सबही सन, ये सुर–नर मुनि भरमाया।। टेक।।

❖ ❖ ❖ ❖ ❖

बालक, वृद्ध, तरुन अति सुन्दर, नाना भेष बनावै।
जोग जती तपी संन्यासी पंडित रहन न पावै।।

बाजीगर की बाजीकारण, सबको कौतुक भावै।
जो देखे सो भूलि रहै, बाँका चेला मरम न पावै।।२।।

❖ ❖ ❖ ❖ ❖

केशव विकट माया तोर, ताथै निकट गति–मति मोरि।।
सविष उष्ण कराल अहिमुख, ग्रस्त सुटल सुमेष।।
निरष माखी बकै व्याकुल, लोभ काल न देख।
इन्द्रियादिक दुःख दारुण, असंख्यादिक पाप।
तोहि भजन रघुनाथ, अंतर ताहि त्रास न ताप।।
यह माया सब थोथरी, भक्ति रिस–प्रतिकार
कहै 'रैदास' सत् वचन गुरु के, सो जीव तै न बिसार।।३।।

६. भक्ति

भगति ऐसी हमारी संतों, प्रभुता इहई बड़ाई।
आपन अनत और नहि मानत, तातें मूल गवाँई।।

❖ ❖ ❖ ❖ ❖

मनै 'रैदास' उदास ताहिं तै, अब कछु मोपै कह्यों न जाई
आपा खोये भगति होत है, तब रहे अंतर उरझाई।।

❖ ❖ ❖ ❖ ❖

भक्ति ऐसी सुनहु रे भाई, आई भगति तब गई बड़ाई।।टेक।।

कहा भयो नाचे अरु गये, कहा भयो तप कीन्हे।
कहा भयो जे चरन पखारे, जौ लैं परम तत्त नहीं चीन्हे।।
कहा भयो जे मुंड मुड़ायो, वह तीरथ–व्रत कीन्हे।
स्वामी–दास, भक्त अरु सेवक, जो परम तत्त नहिं चीन्हे।।
कह 'रैदास' तेरी भक्ति दूर है, भाग बड़े जो ।।
तज अभिमान, मेटि आपा पर, पिपलक हू चुनि खावै।।

७. बाह्याडम्बरों के प्रति

थोथी काया, थोथी माया,
थोथा हरि बिन जनम गँवाया।
थोथा पंडित, थोथी बानी,
थोथी हरिबिन सबै कहानी।।२।।
थोथा मन्दिर, भोग–बिलासा,
थोथी आन देव की आसा।।

❖ ❖ ❖ ❖

राम बिन जो कुछ करिये, सो सब भरम कहाई।

८. सच्ची ब्रह्मानुभूति के लिए

मनसा मन्दिर धूप धुपाइये, प्रेम प्रीत की माल चढ़ाइए।
चहुँ दिस दिबला बर रहे, जगमग है रह्यो रे।
जोति–जोति सम जोति, ज्योति में हिलमिल है रह्यो रे।

९. सामाजिक सिद्धान्त

गणिका थी किस करमा जोग।
पर पुरुषन सूँ रमती भोग।।१।।
निसिवासर दुस्करम कमाय।
राम कहत बैकुंठै जाय।२।।
नाम देव केहि ज़ात के ओछ।
जाको जस गावै तिहु लोक।।३।।
भगति हेतु भगतन को मिलै।
अंकमाल लै बीठल मिले।।४।।

कोटि जग्य जे कोई करै।
राम नाम सम तऊ न निस्तरै।।५।।
निर्गुन को गुन देखौ भाई।
देही सहित कबीर सिधाई।।६।।

❖ ❖ ❖ ❖ ❖

हम अपूज्य पूज्य भयं हरिते, नाम अनुपम गावै रे।।
अष्टादस व्याकरन बखानै, तीन काल षट जीता रे।
प्रेम भगति अंतर गति नाहीं, ताते धानुक नीका रे।।
ताते भलो स्नान को शत्रु, हरि चरनन चित लावै रे।।

●●●

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

साहित्य सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

पुस्तक का नाम	लेखक का नाम	मूल्य
महाकवि अमीर खुसरो	अनु0 अब्दुल सत्तार	100.00
कबीर	डॉ0 विश्वनाथ प्रसाद तिवारी	40.00
भुवनेश्वरः व्यक्तित्व एवं कषतित्व	सम्पा0 राजकुमार शर्मा	90.00
सुब्रह्मण्य भारती	सम्पा0 डॉ0 एन0 सुन्दरम	165.00
साहित्य मनीषी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल	डॉ0 रामचन्द्र तिवारी	60.00
भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का जीवन चरित्र	राधा कृष्ण दास	48.00
प्रसाद समग्र	डॉ0 सूर्यप्रसाद दीक्षित	75.00
हरिश्चन्द्र	बाबू शिवनन्दन सहाय	100.00
बाबा नागार्जुन	डॉ0 सुरेश चन्द्र गुप्त	72.00
पं0 रामनरेश त्रिपाठी	डॉ0 अनुज प्रताप सिंह	55.00
महादेवी वर्मा	डॉ0 उपेन्द्र	70.00
गोस्वामी तुलसीदास	डॉ0 रामचन्द्र तिवारी	50.00
रामचंद्र शुक्ल	प्रो0 सत्यदेव मिश्र	15.00
राष्ट्रकवि सोहन लाल द्विवेदी	डॉ0 राष्ट्रबन्धु	40.00
चंदवरदाई	डॉ0 सुमन राजे	50.00
कविवर सुमित्रानन्दन पंत	डॉ0 सुरेश चन्द्र गुप्त	52.00
कथाकार यशपाल	डॉ0 मनमोहन सहगल	70.00
सुभद्रा कुमारी चौहान	डॉ0 प्रतीक मिश्र	55.00
भगवती चरण वर्मा : एक व्यक्तित्व–चित्र	ज्ञान चन्द्र जैन	70.00
अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध'	डॉ0 कन्हैया सिंह	43.00
मैथिलीशरण गुप्त	डॉ0 प्रभाकर शुक्ल	50.00
आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी	डॉ0 रामेन्द्र पाण्डेय	50.00
सेनापति	डॉ0 अनन्तराम मिश्र 'अनन्त'	75.00
गुरु नानक देव	डॉ0 मनमोहन सहगल	90.00
लक्ष्मीकांत वर्मा	डॉ0 राजकुमार शर्मा	140.00

सम्पर्क सूत्र

निदेशक

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन

6, महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ – 226001

दूरभाष : 0522-2614470

ISBN - 978-93-82175-48-3

मूल्य रुपये 45=00